सहज मार्ग दर्शन

Sahaj Marg Philosophy

मू० ले० रामचन्द्र
अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश

अनुवादक—लक्ष्मी शंकर

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहांपुर, उ० प्र०

प्रथम हिन्दी संस्करण 1992–3500
द्वितीय हिन्दी संस्करण 1996

सर्वाधिकार सुरक्षित
मूल्य : 30.00 रु.

प्रकाशक
श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर, उ०प्र०

मुद्रक
भारद्वाज प्रिन्टर्स, जी–56, सैक्टर–9, नौएडा
दूरभाष : 8–527963, 8–529800

आमुख

भारत को दर्शन की भूमि कहा जाता है। यहाँ विचारों की विपुल परंपरा रही है, पर इसी कारण प्रतीयमान रूप से रचनात्मक उद्यमों के क्षेत्र में मौलिकता, दृष्टिकोण की ताजगी तथा निरूपण का अभाव रहा है। विपुल पैत्रिक सम्पत्ति और उत्तराधिकार ऐसी बड़ी सम्पदा है जिन्हें हम आसानी से फेंक नहीं सकते परन्तु इनसे अन्ध भक्ति के साथ चिपके रहना भी हम अपने ही जोखिम पर कर सकते हैं। हमें तो केवल उनमें से निकलकर विकसित होना है ताकि हम अपनी सुसभ्य वंशावली के अनुरूप अपनी गुणवत्ता सिद्ध कर सकें।

अपने देश के आज के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सन्दर्भ में "सहज़मार्ग प्रणाली" भारत की विपुल आध्यात्मिक परम्परा के सत्व में से उद्भूत उसी विकास का वचन है। इस प्रणाली के संस्थापक ने स्वयं अपने गुरुदेव की परिपाटी तथा पूर्ववर्ती अन्वेषकों जैसे स्वामी विवेकानन्द, महात्मा बुद्ध तथा अनाम वैदिक ऋषियों के उदाहरणों के अनुसार भारतीय दर्शन तथा उसमें सन्निहित परम तत्व के विज्ञान के मूल स्रोत जो प्राप्त पुस्तकों से सर्वथा परे है—पर पहुँचने का निश्चय किया। उन्ही महान गुरुओं की भाँति वे अपनी पद्धति को रहस्यपूर्ण रखना या अपने निष्कर्षों को पाखंडपूर्ण रखना पसन्द नहीं करते। उनके इस प्रकार के साधिकार वाक्य जैसे "यही वह सत्य है जिसे मैंने ढूँढ़ निकाला है" और "यही उस तक पहुँचने का तरीका है" महात्मा बुद्ध के "वहाँ दुःख की समाप्ति हो जाती है" और "इस प्रकार हम उस तक पहुँचते है" की प्रतिध्वनि से लगते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभव की भाषा में सर्वथा निश्चयात्मकता का पुट होता है न कि प्रश्न या संदेह का जो बौद्धिक अन्वेषण की विशेषता है तथा जिसे पाश्चात्य देशों में दर्शन की कील समझा जाता है। फिर भी आध्यात्मिक मनीषियों की कृतियों में निश्चयात्मकता के स्वर में दृष्टिकोणीय सहिष्णुता का पुट रहता ही है। इसके होते हुए भी दोनों के पगों में अन्तर बहुत थोड़ा है जैसा कि मानव सभ्यता के इतिहास में बहुधा देखा जा चुका है। अतः भारतीय दर्शन के समुचित क्षेत्र में एक उदारमना

शोध प्रवण वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की स्थायी आवश्यकता पर जितना भी बल दिया जाय कम है। दूसरी ओर सत्यापन कर्ता के यंत्र, प्रवृत्ति और पद्धति भी उपयुक्तता तथा अन्वेषणान्तर्गत घटना की प्रकृति के अधीन होनी चाहिए। जो कोई भी सद्भाव से इस पुस्तक को पढ़ेगा इसके लेखक के परीक्षण एवं खोज के हार्दिक निमंत्रण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। दर्शन के प्रति धार्मिक प्रवृत्ति के स्थान पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति की विशेषता जताने के लिये इससे अधिक या कम किसी चीज की आशा या माँग नहीं की जा सकती।

पुस्तक का प्रारम्भ दर्शन की प्रकृति एवं कार्य के बारे में लेखक की विचारधारा के संक्षिप्त वर्णन तथा इस नई प्रणाली के इतिहास की प्रमुख विशेषताओं से होता है। तब सैद्धान्तिक भाग आता है जिसमें दर्शन की प्रमुख समस्याओं पर लेखक के निष्कर्ष हैं। अन्त में व्यावहारिक भाग में प्रगति की अवस्थाओं की अनुभूति के तकनीक की आवश्यकीय विशेषताओं का वर्णन है जिन पर वास्तविकता अपना अनावरण स्वतः करती है। इस पुस्तक में जिन बातों का समावेश है उनके कुछ अंश ''श्री बाबू जी'' अन्य किन्हीं पुस्तकों में भी पाये जा सकते हैं। यह एक विशेष प्रयोजन को दृष्टि में रखकर क्रमबद्ध किया गया है ताकि गुरुदेव के योगदान का यह पुस्तक प्रतिनिधित्व कर सके। यह कृति अपने आप में व्यापकता एवं सम्पूर्णता का दावा नहीं कर सकती तथा इसके पूरक के रूप में सभी प्रकाशित और अप्रकाशित कृतियों का उपयोग करना आवश्यक होगा।

गुरु सदैव अपने कृत्यों से महानतर होता है। ऐसा हो कि उनकी कृतियों का परिचय जिज्ञासुओं को मूल स्रोत तक ले जावे जिन सबकी अनुभूति का वे प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसके लिए वे स्वयं समर्पित हैं। सदियों से विद्वत्ता के स्थिरत्व में निद्रित भारतीय दर्शन की अमर आत्मा एक ताजे पुनर्जागरण के युग में पुनर्जीवन प्राप्त करे। प्राची के अति प्राचीन ज्ञान एवं प्रतीची के संतृप्ति की सदाहरित खोज के संयोग द्वारा मानवता अपने अवश्यम्भावी के अनुभूति की उच्चाकांक्षा पूर्ण कर सके। इन आशाओं और प्रार्थनाओं के साथ मैं इस कृति तथा उनके बीच जिनके लिए यह अभीष्ट है और अधिक व्यवधान नहीं होना चाहता हूँ।

ए० पी० श्रीवास्तव, एम० ए०, पीएच०डी०
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
वाई० डी० डिग्री कालेज
लखीमपुर खीरी, उत्तर प्रदेश

प्रस्तावना

भारत आध्यात्मिक के लिये सारे संसार में प्रसिद्ध है। हमारे आदि गुरू महात्मा रामचन्द्र जी (फ़तेहगढ़) कुछ महान विभूतियों में से एक हैं। जिन्होंने आध्यात्मिक के क्षेत्र में महान कार्य ईश्वरानुभूति की थी। आपका नाम बुद्ध, चैतन्य महा प्रभु, स्वामी विवेकानन्द जी जैसी महान विभूतियों के साथ लिया जाता है। आप को लोग प्यार से लाला जी महाराज के नाम से पुकारते थे। आपने मिन्षिक अन्धकार को दूर करने और जनता को आध्यामित्मकता का ज्ञान प्रकाश देने का भरसक प्रयत्न किया। और लाला जी महाराज के आर्शीवाद से प्रभावि होकर हमारे बाबू जी महाराज ने उनके कार्य को कुछ परिवर्तित करके आध्योत्मिकता के कार्य को आपने गुरु जी महाराज की Gidence में आगे बढाया। जो 'सहज मार्ग' के नाम से व्यख्यात है।

पूज्य बाबू जी महाराज ने अपनी पुस्तको में अपने विचार प्रगट किये हैं। उनके अनुसार पूर्णत्व के उच्चत्तर स्तर पर एक सच्चे योगी का ईश्वर से लगभग एकाकार हो जाता है। जिसे, प्रकृति पर उसका पूर्णाधिकार हो जाता है। ईश्वरानुभूति सदैव से सांसारिक प्राणियों के लिये सर्वाधिक जटल समस्या रही है। अनेक ज्ञानी ऋषि, मुनियों ने इस समस्या को अपनी–अपनी पहुँच के अनुसार इसको हल करने का प्रयास किया है। संसार के अनेक धर्म, पथ इसके परिणाम है। उन्होंने आध्यात्मिक के क्षेत्र अनेक अनुभव प्राप्त किये थे, उसी अनुभव और लोगो की क्षमता के अनुसार जनता का मार्ग दर्शन तथा प्रशिक्षण किया। अज्ञानी जन समूह को उन्होंने सत्य–मार्ग पर लाने का अपनी शक्तिनुसार प्रयास किया। किन्तु दुर्भाग्यवश वास्तविक भाव की अपेक्षा लोगों ने अपने में बाह्य रूप को ही भर लिया। उन्होंने यर्थात में स्वम् ऊँचे उठने और ईश्वर की अनुभूति करने का स्वतः व्यक्तिक रूप में कभी कोई प्रयास नहीं किया। वास्तव में इस सम्बन्ध में दूसरों के अनुभव उपयोगी नहीं होते। जब तक हम स्वम् अनुभव और ईश्वर ज्ञान प्राप्य न कर लें तब तक हमें सच्चे अर्थों में लाभान्वित होने का दावा नहीं कर सकते। गलत प्रयास से, अन्धकार के बादलो ने प्रायः समस्थ आकाश को ढ़क लिया है। इस स्थिति में परिवर्तन अवश्यभावी है।

प्राचीन समय में जो भी महान गुरू आये सब का यही प्रयास रहा कि उन्हें आत्यामिकता की शिक्षा देकर आदर्श के अनुकूल बनायें। इसी इच्छा से उन्होंने अपने पूरे जीवन कार्य किया। पर उन्होंने उस विचार शक्ति का प्रयोग किया जो मानव में प्रधान है। इन गुरूओं के किसी न किसी तरह राजयोग को अपनाने का बरसक प्रयास किया। वास्तव में राजयोग एक विज्ञान है ना कि धर्म। यह वह मार्ग प्रस्तुत करता है जिस पर ईश्वर से संपर्क प्राप्त करने हेतु आगे बढ़ा जाय। विचार शक्ति (thought power) इसका प्रमुख नियन्त्रक सिद्धान्त है। यह अत्यन्त क्षमतापूर्ण और सरल(सहज) पद्धति है। ईश्वर भी सहज (सरल) है और उसको प्राप्त भी सहज पद्धति से सम्भव है। राजयोग, ईश्वर से सम्बन्धित विज्ञान है, जो सहज भी है।

इस प्रणाली के अन्तरगत प्रशिक्षण गुरू द्वारा प्राणाहुति के माध्यम से दिया जाता है। समय की आवश्यकतानुसार इसमें अनेक परिवर्तन किये गये। दुर्भाग्यवश महान दार्शनिक, वैज्ञानिकों ने अपनी योग्यता के अनुसार इसे जटिल बना दिया जिसे वह पद्धति आम मानव की समझ से परे रह गयी। और अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में असमर्थ रह गयी। वास्तव में आध्यात्मिकता के पथ पर चलने मनुष्य को जिन विभिन्न दशाओं मन: स्थितियों का अनुभव होता है, उन्हें शब्दों में प्रगट नहीं किया जा सकता। सिका अनुभव या साक्षात्कार ही किया जा सकता है। पढ कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है शास्त्रार्थ करा जा सकता है पर यह प्राणी के लिये किसी उपयोग का नहीं है। यह एक क्रियात्मक वस्तु है और इसे तभी पाया जा सकता है जब मनुष्य इसे व्यवहारिक रूप में अपनाये और इस में वर्णित दशाओं के रूप से गुजरे। इस कारण सामान्य लोग इसे अपने सामर्थ्य और क्षमता से परे पाकर कठिन समझने लगते हैं। उनके लिये यह गुप्त कोष बन गया। वास्तव में बहुत थोडे से लोग रहे हैं जो इस विज्ञान से यथार्थत: लाभान्वित हुये हैं।

सांसारिक जीवन बिताते हुये जीविका हेतु संघर्ष, कष्ट और दु:ख के चक्र के नीच करहाते हुये नित्य कर्म को परिपाटी में फंसे रहते हैं. सांसारिक क्रिया कलाप प्राणी को हर क्षण अपने में व्यस्थ रखते हैं। जिससे प्राणी को ईश्वर जीव आत्मा के सम्बन्ध में सोचने का समय ही नही मिलता। सत्य मार्ग से बहुत दूर प्राणी अज्ञान के अन्धकार में भटकता रहता है। और मनुष्य जीवन की योनी से लाभ नहीं उठा पाता है क्योंकि वह जीवन का क्या ध्येह क्या लक्ष्य है यह भी नहीं जान पाता है। गृस्थाश्रम में रह कर पूर्वो के बनाये नियम और संस्कारों को करके ही मानव प्राणी खुश रहता है। जो उसे ईश्वर से दूर करने में ही सहायक हो सकते है। प्राणी यही सोचता रह जाता है कि वृद्धा अवस्था में सांसारिक बन्धनों, समस्याओं से छुटकारा पाकर, भगवान का ध्यान करेंगे पर वह समय आता ही नहीं है, मानव दिन प्रतिदिन

सांसारिक, पारिवारिक समस्याओं में उलझता ही जाता है। और ईश्वर प्राप्ति का समय उसके जीवन में आ ही नहीं पाता।

शाहजहाँ पुर निवासी परम पूज्य श्री राम चन्द जी महाराज (अपने गुरू के नाम पर श्री राम चन्द्र मिशन के संस्थापक) के हम अत्यन्त आभारी है। जिन्होंने ''सहज मार्ग'' ईश्वर प्राप्त का अचूक और महत्वपूर्ण मार्ग दिखाया।

यह राजयोग की वह प्रचलित प्राचीन प्रणाली है जिसमें बाबू जी ने कुछ परिवर्तन करके समय की आवश्यकताओं के अनुकूल जगजीवन के नित्य कर्म में रत लोगों के लिये व्यवहारिक बना दिया। अधिचेतना की अत्यन्त सूक्ष्म स्थिति में, यह उन्हें दैवी प्रकाश से मिली है। इस कारण सर्वाधिक कार्य दक्ष, पलप्रद और पूर्ण है। अनेक जन्मों के परिश्रम के पश्चात् ही किसी भी व्यक्ति को मोक्ष सम्भव था। पर ''सहज मार्ग'' पर चल कर इसी जन्म में मोक्ष प्राप्ती सम्भव है। हमारे परम पूज्य बाबू जी महाराज ने अनेक पुस्तकों में 'सहज माग' के विषय में अपने विचार व्यक्त किये है। 'सहज मार्ग दर्शन' में उन्होंने, प्रकृति और ज्ञान, मानव, आत्म साक्षात्कार, ईश्वर प्राप्ति, कैसे की जाय, और किस–किस दशाओं से गुज़र कर साक्षात्कार सम्भव है आदि का वर्णन है।

'सहज मार्ग' में आध्यात्मिक अभ्यास पर अत्यधिक बल दिया गया है। इस प्रणाली में मार्ग दर्शक की शक्ति ही हमें ध्येय तक पहुँचाने के योग्य बनाती है। यदि अभ्यासी मार्ग दर्शक या सदगुरू को पूरी तरह समर्पित कर दे तो उनकी प्रगति निश्चित है। इस पथ पर चल कर अभ्यासी अपने लक्ष्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

अमिता कुमारी

हिन्दी संस्करण की भूमिका

Sahaj Marg Philosophy शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक का सर्वत्र स्वागत हुआ। यहीं नहीं सहज मार्ग के सम्पूर्ण स्वरूप का एक स्थान पर दर्शन कराने में वह अत्यन्त लाभदायक एवं अपरिहार्य सिद्ध हुआ।

ऐसा अनुभव किया गया कि श्री रामचन्द्र मिशन की अन्य पुस्तकों की भाँति इसके भी हिन्दी संस्करण की नितांत आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका हिन्दी अनुवाद पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

अनुवाद कार्य सदैव मूल लेखन से कठिन होता है क्योंकि अनुवादक मूल लेखक की भांति विचारों को व्यक्ति करने में स्वतंत्र नहीं रहता। वह मूल भाव को बनाए रखने में शब्द, समय, तात्कालिक प्रवृत्तियों आदि की सीमाओं से आबद्ध रहता है। प्रस्तुत अनुवाद श्री लक्ष्मीशंकर, प्रीसेप्टर तथा भूतपूर्व प्रिंसिपल, के०पी० युनिवर्सिटी कालेज, इलाहाबाद द्वारा तैयार किया गया है। अपनी लम्बी और गंभीर अस्वस्थता के बावजूद यह कठिन कार्य करके उन्होंने मिशन की जो सेवा की उसके लिए हम आभारी हैं।

आशा है पाठकगण इससे अपेक्षित लाभ उठाएँगें।

प्रकाशन विभाग,
श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश

30-4-82

अन्तर्वस्तु

पृष्ठ

अध्याय 1 **परिचय** 1–6

दर्शन को धारणा

सहजमार्ग का इतिहास

सहज मार्ग की विशेष बातें

भाग 1 सिद्धान्त

अध्याय 2 **वास्तविकता–इसके गतिहीन और गतिशील पहलू** 7–18

मूलभूत वास्तविकता

अनन्यता

सृष्टि विज्ञान

आकाश और काल

जीव और ब्रह्म

प्रकृति में समानान्तरता

अवतार

अध्याय 3 **ज्ञान और इसकी प्रकृति** 19–22

उपाय–तर्क, श्रुति और अनुभव

अध्याय 4 **मनुष्य** 23–29

ब्रह्माण्ड में उसका स्थान और निर्यात

मानवीय और दैवी समानान्तरत्व का अंत

साक्षात्कार और उसका उपाय

भाग 2 अभ्यास

अध्याय 5 साक्षात्कार का मार्ग (अभ्यासी की भूमिका) 30–43

वैराग्य

ध्यान

ध्यान की पूर्व तैयारी

प्रार्थना

सतत स्मरण

भक्ति

समर्पण

अध्याय 6 साक्षात्कार का मार्ग (मार्ग दर्शक की भूमिका) 44–54

गुरु और उसका कार्य

प्राणाहुति

अध्याय 7 साक्षात्कार के मार्ग में दशाप्रक्रम 55–57

1
परिचय

दर्शन की धारणा

दर्शन एक ऐसा विषय है जिसका आधार तर्क नहीं, अपितु अन्तः स्फूर्ति है। इसका प्रारंभ 'संशय' से नहीं होता, जैसा कि अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं बल्कि 'आश्चर्य' से। आमतौर पर दार्शनिकों ने चीजों को बिना वास्तविक जीवन में उतारे ही समझने का प्रयास किया है जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिकों के साथ आम बात है। मैं कह सकता हूँ कि यह आवश्यक नहीं है कि एक दार्शनिक मात्र दार्शनिक होने के नाते भ्रष्ट या च्युत नहीं हो सकता। परन्तु यदि उसने व्यावहारिक जीवन जी कर चीजों का अध्ययन किया होता तो भ्रष्टाचार की सम्भावना नहीं होती। भारत के ऋषियों ने पहले व्यावहारिक जीवन जीने के पश्चात ही सामान्यतया दार्शनिक प्रयास किए हैं। उन्होंने अपनी पहुँच के स्तर के अनुसार भरसक, स्थित वस्तुओं के रहस्यों को खोला। इसका परिणाम विभिन्न रंगों के छः दार्शनिक मत हैं। हमें तो वस्तुओं के सम्बन्ध में तभी धारणा व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जब हमारा अभ्यास समाप्त हो गया हो। यह तो चीजों की परिशुद्धता या सच्चाई प्राप्त करने के लिए एक दार्शनिक के ध्यान देने योग्य मूलभूत बात है।

भारत आध्यात्मिकता का घर है और इसी से यहाँ वास्तविकता के सम्बन्ध में चेष्टाएँ हर युग में क्रियाशील रही हैं। आध्यात्मिकता उस शक्ति से संबंधित एक विज्ञान है जिसका प्रवाह मौलिक भंडार से होता है और जिसमें ग्रन्थियों के रूप में सृजन एवं संहार दोनों की क्षमता होती है। भारत में ऋषियों ने सृजन शक्ति का प्रयोग मानवता के सुधार के लिए किया है। संहारात्मक शक्ति भी इतनी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है कि परमाणु बम भी इसकी तुलना में कुछ नहीं। योगी इन चीजों का प्रयोग दैवी आदेश और अपनी इच्छा शक्ति के अनुसार करता है। आजकल भी इस शक्ति का प्रयोग हो रहा है और एक नए संसार का सृजन हो रहा है। आध्यात्मिक पुनर्जागरण का होना अवश्यम्भावी है और भारत पुनः विश्व का नेतृत्व करेगा, समय इसमें चाहे जितना भी लगे। दूसरे राष्ट्रों ने ऐसा महसूस करना प्रारम्भ कर दिया है कि कोई भी राष्ट्र आध्यात्मिकता के बिना रह नहीं सकता है। कूटनीति और दाँव पेंच का युग अब तेजी से समाप्त हो रहा है। इस शताब्दी के अन्त तक एक बड़े परिवर्तन

का होना अवश्यम्भावी है। प्रत्येक मनुष्य को घटित होने वाले का सहर्ष स्वागत करना चाहिए और आध्यात्मिकता के पथ पर आ जाना चाहिए जिसमें ही उसके कल्याण का संवर्धन निहित है। मैं यहाँ पर महानतम दर्शन उजागर कर रहा हूँ। प्रारम्भ में लोग इसको सम्भवत: न समझ पावें, परन्तु कालान्तर में वे अवश्य ही इसका इसी रूप में अनुभव करने लगेंगे।

सहज मार्ग का इतिहास

महान व्यक्ति यों ही (आकस्मिक रूप से ही) नहीं पैदा हो जाते हैं। जब विश्व उनके लिए अत्यन्त लालायित होकर इच्छा एवं प्रतीक्षा करता है तब वे पैदा होते हैं। यह प्राकृतिक घटना है। आध्यात्मिकता का आवास भारत, अँधेरे में टटोल रहा था और युगों की प्राचीन योग प्रणाली को पूरी तरह भूल चुका था। ठोस द्रव्यात्मक भावना ने सूक्ष्म आध्यात्मिकता का स्थान ले लिया था। अज्ञान के काले बादल चारों ओर मँडरा रहे थे। यौगिक प्राणाहुति हिन्दुओं के लिए बिल्कुल अजनबी सी चीज हो गई थी। ऐसी स्थिति में जब आध्यात्मिकता असहाय होकर लड़खड़ा रही थी, किसी महान व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो मानवता के उद्धार के लिए चीजों को सुव्यवस्थित कर सके।

यह 2 फरवरी 1873 को बसन्त पंचमी का शुभ दिन था जब प्रकृति की शक्ति पृथ्वी पर, समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज के रूप में उ० प्र० के फर्रूखाबाद जिले के फतेहगढ़ स्थान पर उतरी। इस आनन्ददायक दिन का समन्वय वर्ष की सुन्दरतम ऋतु से इस प्रकार हुआ कि जिसने बसन्त की पूर्णतम ताजगी प्रत्येक हृदय में भर दी। उनके प्रादुर्भाव के आनन्दमय काल ने आध्यात्मिक जागरण के एक नए युग का प्रारम्भ किया जिसमें मानव अस्तित्व की समस्या का व्यावहारिक हल मिलता है। उनके द्वारा लाये गये आध्यात्मिक क्षेत्र में शानदार पुनर्जागरण को जब हम अपने मन में याद करते हैं तो एक श्रद्धामय आनन्ददायक विस्मय से स्तब्ध रह जाते हैं। वे अस्तित्व की समस्या का एक सरल हल प्रस्तुत करते हैं जो सदैव से बड़े से बड़े मनीषियों को भी भ्रमित करता रहा है।

इस दैवी व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव एक सम्माननीय कायस्थ परिवार में हुआ था। उनका बचपन उनकी माता से प्रभावित था जो एक सुसंस्कृत और सरलमना महिला थीं और जो अपना अधिकांश समय भक्ति और पूजा में बिताती थीं। उनके प्रभाव के कारण उन्होंने अत्यन्त प्रारम्भिक आयु में ही अन्त:प्रेरणा प्राप्त की। घटना इस प्रकार है कि एक दिन जब वे अपने साथियों के साथ खेल रहे थे तो किसी दिव्य शक्ति ने उनके मन में यह भाव जागृत किया कि वे उस प्रयोजन के लिए जिससे वे संलग्न हैं नहीं आए हैं। उन्हें आत्म साक्षात्कार करके भविष्य के महान कार्य के लिए अपने

को लैस करना है। आत्मा जागृत हो गई और वे इस कार्य में पूरी निष्ठा से आरूढ़ हो गए। उन्होंने केवल सात माह में ही पूर्णता प्राप्त कर ली, जो वास्तव में एक अद्वितीय उदाहरण था। तब से उन्होंने अपना सारा जीवन आध्यात्मिकता के हेतु समर्पित कर दिया। वे हमारे मिशन के आदि गुरु हैं।

वे संतुलन, सहनशीलता और भक्ति के मूर्तरूप थे। उनके साथ प्राणाहुति द्वारा यौगिक प्रशिक्षण के नए युग का अवतरण हुआ जिस पर उनका पूर्ण स्वामित्व था। उन्होंने एक ऐसा मार्ग दिखाया जिससे मनुष्य को गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए एक ही जीवन में पूर्णता प्राप्त हो सकती थी। वह कहा करते थे कि गृहस्थ जीवन के दु:ख और कष्ट आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए तपस्या और त्याग हैं। उन्होंने काफी सीमा तक आध्यात्मिकता प्रशिक्षण पद्धति को सरल कर दिया जिससे कि वह हमारे समय की आवश्यकता के अनुरूप हो सके। अत्यन्त उच्च कोटि की योग्यता और आध्यात्मिक गरिमा के साथ दिव्य प्रकाश, हमारे महान गुरुदेव ने, अपने जीवन का प्रत्येक क्षण मानवता के उन्नयन में व्यतीत किया। वास्तव में, वे प्रकृति के विलक्षण प्रतिरूप थे और आध्यात्मिक क्षेत्र में उनका कार्य सामान्य धारणा क्षेत्र से परे था। इस विज्ञान में उनके आश्चर्यजनक शोध ने कम से कम समय में अधिकाधिक सीमा तक मनुष्य की पहुँच को सम्भव तथा व्यावहारिक बना दिया है। उन्होंने राजयोग की उन्नतिशील प्रणाली का प्रवर्तन किया जो बाद में चल कर 'सहज मार्ग' कहलाया। लगभग 36 वर्षों तक जन समुदाय की सेवा करने के बाद इस आध्यात्मिक प्रतिभा ने अपना पंचभौतिक शरीर 4 अगस्त 1931 को 58 वर्ष की आयु में त्याग दिया। अपने जीवन काल में जो कार्य उन्होंने किया वह समझ के परे है। कालान्तर में भावी पीढ़ी उनकी योग्यता को जान सकेगी।

श्री रामचन्द्र मिशन की स्थापना इसी महान व्यक्तित्व के नाम पर शाहजहाँपुर (उ० प्र०) में 31 मार्च 1945 को उनके प्रतिनिधि के रूप में उनकी कृपा से मेरे द्वारा हुई थी, और धीरे-धीरे अब वह चारों तरफ से जिज्ञासुओं को अपनी ओर खींच रही है। मुझे प्रसन्नता है कि गुरुदेव की कृपा इस दिशा में कार्य कर रही है और लोग उससे लाभ उठाने के लिए आकर्षित हो रहे हैं।

'सहजमार्ग' साधना' प्रणाली, जिसका अनुसरण मिशन में किया जाता है, एक सरल और नैसर्गिक पथ प्रस्तुत करती है जिससे अन्तिम तत्व की उपलब्धि हो सके। सहज मार्ग उन भौंड़ी पद्धतियों का, जो दैनिक जीवन में सम्भव नहीं हो सकती हैं, परामर्श नहीं देता। आध्यात्मिक प्रशिक्षण की सहज मार्ग पद्धति में इन्द्रियों का कार्य एक स्वाभाविक रूप में नियंत्रित किया जाता है ताकि उन्हें मौलिक अवस्था में लाया जा सके अर्थात् ठीक उस रूप में जिसमें वह उस समय था जब इसने

सर्वप्रथम मानव रूप धारण किया। यही नहीं निम्न वृत्तियों को जो स्वतंत्र रूप में कार्य करती हैं अति चेतना के अधीन कर दिया जाता है। अतः उनकी कुत्सित चेष्टा समाप्त हो जाती है। उच्चतर केन्द्र दैवी केन्द्रों के स्वत्व में आ जाते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रणाली का दैवीकरण होने लगता है।

सहज मार्ग की विशेष बातें

मैं जो कुछ भी कहता हूँ या लिखता हूँ वह हमारे निजी अनुभव के आधार पर हैं, इस बात से कोई तात्पर्य नहीं है कि शंकर या रामानुज अथवा अन्य लोगों ने क्या विचार व्यक्त किया है। इस संसार में हर व्यक्ति शांति चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसका उद्देश्य आत्म साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति नहीं है। ऐसी दशा में उसे केवल शान्ति प्राप्त होगी, न कि आत्म साक्षात्कार। परन्तु यदि आत्म साक्षात्कार उद्देश्य हो तो शान्ति तो इस मार्ग में स्वयमेव अपने आप आएगी। हमें साक्षात्कार को केवल जानने ही का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अपितु इसे प्राप्त करने की कोशिश भी करनी चाहिए।

आमतौर पर लोग सोचते हैं कि इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त करना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव भी है। परन्तु यह एक भ्रामक धारणा है। कौन जानता है कि हमारा यही जीवन अन्तिम जीवन हो जो हमें मोक्ष की ओर ले जा रहा हो। हमारे गुरुदेव का उद्घोष है कि एक साधक तो न केवल एक ही जीवन बल्कि उसके साथ थोड़े काल में ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है (यदि वह परिश्रमी है और उसे वास्तविक मार्गदर्शक मिल गया हो)। यह उन्होंने सिद्ध भी कर दिया परन्तु प्रमाण शब्दों में देना सम्भव नहीं है।

यह सामान्य धारणा कि ईश्वर को जंगलों में ही पाया जा सकता है, (जैसे कि वह जंगलों का निवासी हो व्यर्थ और निरर्थक है। मेरा विश्वास है कि उसे अपने हृदय में ही अच्छी प्रकार ढूँढ़ा जा सकता है। परन्तु इस उद्देश्य के लिए स्पार्टनों का सा साहस चाहिए।

किसी के लिए घरेलू दायित्वों से पूर्णतया विमुख होकर जंगल में भाग कर बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के इधर–उधर भटकने का कोई औचित्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि वैराग्य की उस अवस्था में भी कदाचित् ही कोई सांसारिक विचारों से मुक्त होता है। इस साधना प्रणाली की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह आम आदमी के सामान्य सांसारिक जीवन के साथ चलता है जिसमें वह अपने जीवन के कर्तव्यों एवं दायित्वों का पूरा ध्यान रखता है ताकि जीवन के दोनों पहलू (सांसारिक एवं दैवीं) समानरूप से प्रकाशित होकर विकसित हो सकें। हम लोगों का उद्देश्य इन विचारों का केवल प्रवचन और प्रसारण नहीं है बल्कि उन्हें अभ्यास में

लाने और दैनिक जीवन में लागू करने का है।

मिशन का उद्देश्य महान गुरुदेव के आदर्शों का इस नव प्रवर्तित सहज मार्ग प्रणाली से प्रसार करना है और समस्त जन समुदाय में दैवी चेतना का जागरण करना है ताकि वे प्रगति के पथ पर आरूढ़ हो सकें। इसके लिए आवश्यक है कि प्राचीन यंत्रवत पद्धतियों जिनमें बलात् तप एवं कठोरता का विधान है, जो आज के जीवन के पर्यावरण में बिल्कुल ही बेमेल हैं, निकाल दिया जाय और उनके स्थान पर सरल और स्वाभाविक उपाय लगाये जाएं।

जहाँ तक मोक्ष या पूर्ण मुक्ति का सम्बन्ध है लगभग सभी प्राचीन और वर्तमान मनीषी इस बात पर सहमत हैं कि राजयोग ही एक मात्र ऐसा मार्ग है जो मानव पहुँच की अधिकतम सीमा तक सफलता प्रदान करने में सक्षम है, और हर वह व्यक्ति जिसे मुक्ति पूरी करनी है अर्थात् साक्षात्कार करना है देर सबेर अवश्य ही इस मार्ग पर आयेगा। सहज मार्ग राजयोग पथ के बहुत सन्निकट है परन्तु उस प्रणाली (राजयोग) की अनावश्यक चीजों को हटाने हेतु इसमें कुछ संशोधन और परिवर्तन अवश्य है।

सहज मार्ग में चूँकि गुरु की सहायता साधना की एक विशेषता है अतः अभ्यासी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक योग्य पथ–प्रदर्शक की तलाश करे जो उसे अपनी प्राणाहुति की यौगिक प्रक्रिया द्वारा संचारित शक्ति से उसकी सहायता करता हुआ उसे आगे ले जा सके। गुरु अपनी आन्तरिक शक्ति के प्रयोग द्वारा अभ्यासी के अन्दर सुषुप्त बल को जागृत कर कार्य के लिए प्रवेग प्रदान करता है और दैवी धारा के प्रभाव को प्राणाहुति द्वारा अभ्यासी की ओर मोड़ प्रदान कर देता है। परिणाम यह होता है कि अभ्यासी आध्यात्मिक रूप से अधिकाधिक आनन्द का अनुभव करता हुआ प्रगति करता जाता है। अभ्यासी को इसे ग्रहण करने के लिए अपने को पहले तैयार करना होता है। अथवा दूसरे शब्दों में अपने को इसके लिए योग्य पात्र बनाना होता है। इस प्रकार वह सब जो पहले सतत श्रम और कठिनाई की अपेक्षा रखते थे अब आसानी से और बहुत कम समय में कम से कम श्रम से प्राप्त किए जा सकते हैं। परन्तु यह सब व्यावहारिक है और किसी भी प्रकार शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता है। इसके लाभों के केवल व्यावहारिक अनुभव ही प्रकट कर सकता है।

बहुत से मनुष्यों को शान्ति की अवस्था का स्वाद अवश्य ही मिला होगा। वास्तव में असली शान्ति की सही दशा समझ के बाहर है। इसमें कोई विरोधाभाष नहीं होता है। यह शाब्दिक रूप में न तो शांति है और न बैचेनी, न तो संयोग न वियोग न तो आनंद न अन्यथा। यह अन्ततोगत्वा वह है जिसके लिए हमने दर्द पैदा किया

था। ऐसा हो कि आप सब वैसे दर्द का स्वाद ले सकें इसका उत्पन्न करना कोई कठिन नहीं है केवल एक दृढ़ इच्छा और इसकी तरफ अविभाजित ध्यान ही इस प्रयोजन के लिए सब कुछ है। तब आप जिसकी तलाश करते हैं बिल्कुल आपके समीप ही पाया जायेगा बल्कि आप के साथ ही नहीं आप स्वयं ही वह हो सकते हैं जिसकी आप तलाश करते हैं। उसके लिए हृदय में एक ताप होनी चाहिए जो मार्ग की घास–पात और झाड़–झंखाड़ को जला सके।

मेरा मतलब किसी भी प्रकार गुरुत्व के कट्टरपंथी भाग की वकालत करना नहीं है। अपनी संस्था में इसे आवश्यकतानुसार एक–दूसरे की सहायता करते हुए सामान्य भ्रातृभाव, सेवा और त्याग के भाव से लेते हैं। सहज मार्ग की आध्यात्मिक अभ्यास एवं प्रशिक्षण प्रणाली बिना किसी धर्म, जाति, लिंग या वर्ण के भेद के सभी के लिए खुली है। सत्य के अन्वेषक, अनुभव और अभ्यास के लिए आ सकते हैं, तथा मेरे गुरुदेव जिन्होंने भारतीय दर्शन की परम्परा को नया रूप दिया है, उनकी कृपा द्वारा महत्तम लाभ उठा सकते हैं। परमगुरु का करुणामय पर्यवेक्षण सबको अन्तिम ध्येय साक्षात्कार तथा मानव प्रयोजन की सिद्धि का पथ प्रदर्शन करे।

2
वास्तविकता—इसके गतिहीन और गतिशील पहलू

अन्तिम (मूलभूत) वास्तविकता

ईश्वर, मूलभूत वास्तविकता के अस्तित्व पर बहुत विवाद हो रहा है। मेरी समझ में तो मुख्य समस्या परम साश्वत के अस्तित्व को सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करने की नहीं है बल्कि उसे समुचित और संतोषजनक ढंग से परिभाषित करने की है। विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में व्यक्तिगत क्लेशों एवं वासनाओं द्वारा निर्मित एवं शक्ति प्रदत्त अंध एवं उत्साही विश्वास ने और भी अधिक भ्रम बढ़ा दिया है। फलतः एक विचारवान और तार्किक मनुष्य ठीक ही ईश्वर शब्द के जिक्र मात्र से ऊब सा जाता है।

मूलभूत (अंतिम) वास्तविकता के सम्बन्ध में कई धारणाएं हैं। उसके सम्बन्ध में और अपनी क्षमता और समझ के अनुसार लोग भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में सबसे सामान्य धारणा शाश्वत शक्ति के रूप में है। परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण निर्गुण ब्रह्म को समाहित करता है जो सभी विविधताओं और भेद, विभेद से ऊपर है। यह गुण, क्रियाशीलता और चेतनता से परे है। इस निर्गुण ब्रह्म को अस्तित्व का मूलभूत कारण और उपस्तर माना जाता है जो संपूर्ण व्यक्त सृष्टि का अतिक्रियाशील केन्द्र है। इसे पारब्रह्म भी कहते हैं। उसके बाद ईश्वर का विचार परम अस्तित्व के रूप में आता है। हम ब्रह्माण्ड को उसके अनेक रूपों और विभिन्नताओं में देखते हैं और इसके निर्माता और नियंत्रक में विश्वास होने लगता है। हम उसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहते हैं। हम उसे शाश्वत अस्तित्व के रूप में सोचते हैं जो सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है तथा जिसमें सभी सूक्ष्म गुण विद्यमान हैं। वह जगत का निमित्त कारण है तथा इसका संरक्षक और संहारक भी है।

यह केवल निम्न दृष्टि से देखने से है कि ईश्वर (अपने धार्मिक स्वरूप में) उपासना की वस्तु बन जाता है जो लगभग सभी धर्मों की आखिरी पहुँच है। इस सगुण ब्रह्म को अपराब्रह्म भी कहते हैं। ऊपर लिखी दो धारणाओं के सम्बन्ध में धार्मिक पुस्तकों में बहुत कुछ कहा गया है। कुछ लोग सोचते हैं कि निर्गुण ब्रह्म का भाव सगुण की अपेक्षा अच्छा है। दूसरे ठीक विपरीत विचार रखते हैं। वास्तव में दोनों ही गलती पर हैं। वे न तो निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति कर पाते हैं न तो सगुण ईश्वर

की। निःसन्देह मार्ग दो हैं परन्तु उद्देश्य एक ही है, वह यह कि मूलभूत अथवा परम शाश्वत की अनुभूति करना। दोनों ही धारणाएँ जैसा कि सामान्य रूप में समझा गया है भ्रामिक हैं। सच तो यह है कि ईश्वर न तो निर्गुण है न सगुण बल्कि दोनों से परे हैं। "वह जो है सो है"। यह हम हैं जो उसे निर्गुण भाव देते हैं और यह हम ही हैं जो उसे सगुण बनाते हैं। हम लोगों को इन झमेलों को दूर करने के लिये यह करना चाहिए कि हमें अपनी दृष्टि आदि तत्व पर निश्चित करनी चाहिए, चाहे यह निर्गुण हो अथवा सगुण यह जो भी हो हमें इससे प्रेम करना चाहिए।

हम जब तक धर्म की सीमाओं से आबद्ध रहते हैं धर्म का ईश्वर हमारी दृष्टि में रहता है और एक या दूसरे विचारों में उलझे रहते हैं। उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धि तभी सम्भव है जब हम धर्म की सीमा के पार चले जाते हैं। वास्तव में जहाँ धर्म की सीमा समाप्त हो जाती है वहाँ से आध्यात्मिकता का प्रारम्भ होता है। धर्म मनुष्य की मुक्ति मार्ग पर अग्रसर होने की तैयारी में एक प्रारम्भिक अवस्था है। धर्म का अन्त आध्यात्मिकता का प्रारम्भ है, आध्यात्मिकता का अन्त वास्तविकता का प्रारम्भ है। और वास्तविकता का अन्त ही वास्तविक आनन्द है। जब वह भी समाप्त हो जाता है, हम अपने गंतव्य पर पहुँचे होते हैं। यह उच्चतम सीमा है जो शब्दों में लगभग अवर्णनीय है।

इस प्रकार ईश्वर किसी धर्म या वर्ग विशेष से प्राप्तव्य नहीं है। वह न तो किसी निश्चित रूप और क्रिया में आबद्ध है न तो उसे आप्त ग्रन्थों में ढूँढा जा सकता है। उसे हमें अपने हृदय के अन्तरतम में ढूँढना होगा। वास्तव में ईश्वर बड़ा सरल और सादा है। वह ठोस रूप में नहीं है। उसमें किसी प्रकार की ठोसता नहीं है। ईश्वर सरल एवं सूक्ष्म है। तथ्य यह है कि मूलभूत तत्व की सरलता और शुद्धता ही उनके लिए पटाक्षेप (पर्दा) हो गई है।

ईश्वर के सम्बन्ध में धारणा को समझने के लिए हमें एक अनीश्वर वादी के दृष्टिकोण कि ईश्वर नहीं है, से प्रारम्भ करना चाहिए। गणित की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि इसे कोई भी धनात्मक या ऋणात्मक मूल्य नहीं दिया जा सकता। उसे जिसे कोई धनात्मक या ऋणात्मक मूल्य नहीं दिया जा सकता गणितीय संकेत में शून्य कहते हैं।

अब अनीश्वरवादी के सम्मुख यह समस्या रखी जाय कि कौन–सी वस्तु अस्तित्व में है। एक दृढ़ संशयवादी अपने आप के अस्तित्व अर्थात वह जो संशय करता है अथवा अस्वीकृत करता है को छोड़कर हर वस्तु में संशय कर सकता है तथा हर वस्तु के अस्तित्व को अस्वीकार कर सकता है। पुनः गणित की भाषा में कहा जाय तो इसे सुगमता से 'एक' कहा जा सकता है।

अब शून्य के जादुई करामात पर ध्यान दीजिए। आप ज्यों–ज्यों उसे जो अस्तित्व में नहीं है अर्थात शून्य को जो अस्तित्व में है अर्थात 'एक', के दाहिने ओर जोड़ते जायँ तो यह फैलता और गुणित होता जाता है। इस प्रसारण की समझ में आने योग्य कोई सीमा नहीं है और उपनिषदों ने इस प्रसारित अनन्त को ठीक ही सबसे बड़े से भी बड़ा (महत्तम से भी महान) (महतो महीयन्) कहा है। अब 'शून्य' को 'एक' के बाईं ओर अथवा ऋणात्मक दिशा में जोड़ते जाइए, नकारात्मक इच्छा से अर्थात दशमलव बिन्दु से। अधिक से अधिक 'शून्य' का जुटना 'एक' को शून्य के अधिक से अधिक समीप ला देगा। पुनः इस 'स्व' के सिकुड़न की कोई सीमा नहीं है और उपनिषदों ने ठीक ही लघुतम से भी लघु (अणोरणीयान्) कहा है।

मेरा विश्वास है कि ईश्वर के प्रश्न पर विवाद काल्पनिक है। इसकी उत्पत्ति वास्तव में उन भ्रामक विचार धाराओं के कारण है जिन्होंने ऐतिहासिक क्रम में मानवता के विभिन्न सांस्कृतिक गुटों द्वारा ईश्वर को बोझिल कर दिया है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इस समस्या के प्रति संवेगात्मक प्रयास छोड़ दिया जाय क्योंकि इससे दृष्टि धूमिल हो जाती है और मनुष्य की उद्देश्य की ओर प्रगति मन्द पड़ जाती है।

समझने के लिए इसे हम 'शून्य' या 'केन्द्र' या 'आधार' कह सकते हैं। कोई भी प्रकृति और कोई भी ब्रह्माण्ड बिना आधार के नहीं टिक सकता। अस्तित्व के लिए किसी न किसी आधार की आवश्यकता है और वह आधार ईश्वर या ब्रह्म, मूलभूत सत्ता है। यह भूमा है, एक द्रव्यहीन द्रव्य और एक बलहीन बल।

अब मैं एक रहस्य के वास्तविक महत्व को प्रगट कर रहा हूँ जो लोगों को नहीं मालूम है। सामान्यतया लोग सत को वास्तविकता समझते हैं और इसे ईश्वरीय ज्ञान का मापदण्ड मानते हैं। वास्तव में यह सारा तम और मात्र तम का क्षेत्र है। एक सच्चे योगी के लिए यही एक मात्र वस्तु प्राप्तव्य है। इसमें सन्देह नहीं कि इस बिन्दु तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। सत् को प्राप्त करना बहुत आसान काम है परन्तु उसे जिसे तम नाम दिया जाता है इतनी आसानी से नहीं प्राप्त किया जा सकता। इससे आगे कुछ नहीं है। यद्यपि लोग आमतौर पर इसके बारे में बहुत चर्चा करते हैं, उनमें से बहुत थोड़े लोग यहाँ तक पहुँच के लिए प्रयास करते हैं। वहाँ पर शुद्धता, सरलता और शाँति भी नहीं होती। यह वास्तव में उन सबके आगे है। यह वह वस्तु है जो कई जन्मों के लगातार कई वर्षों के परिश्रम के पश्चात प्राप्त होती है। मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि विश्व के बड़े से बड़े संत भी इस दिशा में अपूर्ण रहे हैं। निषेध की स्थिति जिसकी लोग कामना करते हैं इसमें निवास करती हैं, और किसी व्यक्ति के इस बिन्दु तक पहुँचने के पहले सारे क्रियाकलाप समाप्त हो जाते हैं। यही केन्द्र बिन्दु

तथा वास्तविक 'होने' की दशा है जो अधिकांश में हर प्रयास के बावजूद भी दुर्लभ रहा।

लोग इस तम अवस्था को महामारक शत्रु समझते हैं। परन्तु यदि आपको किसी ऐसे व्यक्ति को परखने का अवसर प्राप्त हो जिसमें इस पूर्ण अज्ञानता की दशा का पूर्ण साम्राज्य छाया हुआ हो तो आप अनुभव करेंगे कि विकास की उच्चतम अवस्था में उसे, एक शिशु की भाँति, अपनी दशा का भी भान न होगा। परन्तु उसे यदि सत का थोड़ा सा सम्पर्क दे दिया जाय तो उसे अपनी तम अवस्था का ज्ञान हो जायेगा। यह इस कारण है कि इन दोनों (सत और तम) के मिलने से एक नई अवस्था पैदा हो जाती है जो उसके समान है जो सृष्टि का आधार कारण था।

सामान्यतया हमारी आँखें उस किसी भी वस्तु की ओर आकर्षित हो जाती हैं जो चमकदार और स्पष्ट होती हैं और हम उसे भूल से सत समझ लेते हैं। यह चमकीला पदार्थ माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है और वे जो इसके बारे में इतना बढ़ा चढ़ा कर बात करते हैं वास्तव में आध्यात्मिकता के भी क्षेत्र से बहुत दूर हैं, वास्तविकता का तो कुछ कहना ही नहीं। परन्तु लोगों ने अपने में इस प्रकार की तंद्रा पैदा कर ली है कि इस सम्बन्ध में लोग कुछ भी सुनने या समझने में सक्षम नहीं रह गए हैं। वे असली वास्तविकता को देखने की दृष्टि खो चुके हैं जो प्रकाश और अन्धकार दोनों के परे है। यही चीज मिशन के कुल चिन्ह में दर्शाया गया है और वह एक वास्तविक अर्थ में मनुष्य की पूर्णता की अवस्था है जहाँ से च्युत होना सम्भव नहीं है। यह दर्शन का बहुत नाजुक विषय है। संतों ने आमतौर पर न तो प्रकाश न अंधकार की इस अवस्था को सत्पद कहा है जो ठीक नहीं है क्योंकि मत पद की अवस्था उसके बहुत आगे है। वह वास्तव में 'वास्तविकता' परावर्तन है और जो वास्तविकता अपने आप में और आगे है। उन लोगों को जो इन पृष्ठों को पढ़ेंगे अत्यन्त आश्चर्यजनक मालूम हो सकता है परन्तु हमने उन लोगों के लिए लिखा है जो आध्यात्मिकता में अत्यन्त विकसित हैं तथा इस विज्ञान का यथेष्ट ज्ञान रखते हैं। इसका केवल व्यावहारिक रूप में अनुभव किया जा सकता है और इसे धर्म की चहारदीवारी में नहीं प्राप्त किया जा सकता। यह एक बिल्कुल अलग ही मार्ग है। यह स्वयं एक विज्ञान है जिसके लिए कोई तब तक नहीं सुयोग्य हो सकता जब तक उसमें अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति की परख की क्षमता न पैदा हो जाय।

अनन्यता (Identity)

अनन्यता के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूँ कि इसे सम्यक् रूप से एक सूक्ष्म भाव के रूप में कल्पित किया जा सकता है जो बाद में विचार के रूप में विकसित होता है। इसका ठीक–ठीक अर्थ व्यक्त करना बहुत कठिन है। फिर भी इसका अर्थ

यों लगाया जा सकता है जैसे वह जो हमारे अभिज्ञान में मूल की चेतनता लाता है या मौलिक चेतना का थोड़ा स्थूल रूप, वास्तविकता जो थोड़े स्थूलता के चोगे में हो। स्थूल रूप हमारे हृदय में यह भाव उत्प्रेरित करता है कि इसके आगे भी कुछ अवश्य है जो इसे अस्तित्व में लाने का हेतु है। इससे कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि उसका भी क्रमानुसार कोई कारण होगा। कार्य और कारण (हेतु) की यह लड़ी तब तक चल सकती है जब तक कोई उस बिन्दु तक पहुँच जाय जब उसकी चेतना से यह लड़ी भी लुप्त हो जाय। तर्क बुद्धि से कोई यह कह सकता है कि इसका भी कोई कारण अवश्य होगा। परन्तु तब यह सब मानव समझ के बाहर हो जाता है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अपने सूक्ष्मतम स्तर पर यह अनन्यता के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। हर शरीर धारी आत्मा की एक अनन्यता होती है जो उच्चतर स्तरों पर सुन्दरतर और सूक्ष्मतर होती है। जितनी सूक्ष्म अनन्यता होगी वह व्यक्ति जीवन में उतना ही शक्तिशाली होगा।

अनन्यता का अस्तित्व महाप्रलय तक बना रहता है जब यह अपना निजीपना या अनन्यता को त्याग देता है तथा एक सामान्य अनन्यता में विलीन हो जाता है जो बाद में दूसरी सृष्टि के लिए कारण का कार्य करता है। इस प्रकार यह निजपना है जो समाप्त होता है न कि अनन्यता। यह मूल या केन्द्र पर सुषुप्त क्रिया के कारण ऐसा है जहाँ पर 'होने' और 'न होने' अस्तित्व और अनस्तित्व में अन्तर नाम मात्र का होता है।

सृष्टि विज्ञान (Cosmology)

संसार स्मरणातीत काल से अस्तित्व में है और इसकी सही तिथि का पता नहीं मिलता हालांकि लोगों ने सृष्टि युग नियत करने का प्रयास किया है। सृष्टि के पूर्व केवल देवत्व अपने शुद्ध और मौलिक अवस्था में था जिसमें कोई ठोसता या स्थूलता न थी और हर वस्तु अपने सत्व रूप में निहित थी। सृष्टि कार्य प्रारम्भ होने के पहले केन्द्र और इसके चारों ओर केवल गुप्त गति थी और इसमें सृष्टि का भाव विद्यमान था। आप इसे प्रथम विचार या प्रारम्भिक ज्ञान (अविद्या) कह सकते हैं। इसे गति, क्षोभ, कम्पन, बल या और कुछ जिससे भी समझ में आ जाय कह सकते हैं। यह सृष्टि तथा उस सब का जो इसके लिए आवश्यक था, मूलभूत कारण था। जब सृष्टि का समय आया, वह भाव जो गुप्त गति में छिपा या सुषुप्त था परिपक्व हो गया और उसने सम्पूर्ण गति को मँथ दिया और बल या शक्ति उत्पन्न किया जो बाहर निःसृत हुआ। सूक्ष्मतम कण गर्म हो गया। इस प्रकार प्रथम दिवस से ही आवरण लग गया। लगातार गरम होने के प्रभाव से कणों में गति आना प्रारम्भ हो गई। इसकी तीव्रता और कम्पन में बढ़ोत्तरी केकारण स्थूलता का विकास होने लगा। हर कण का कार्य

प्रारंभ हो गया और कई गुना होता गया जब तक कि वास्तविकता ककून में रेशम के कीड़े की भाँति बँध न गई।

इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में एक क्षोभ, एक गति थी। यह गति सृष्टि का आधार थी। यह एक पवित्र वस्तु थी जो ईश्वर के बाद दूसरे स्थान पर थी। वही वस्तु मानव मस्तिष्क के रूप में प्रगट हुई। जब सृष्टि का समय आया तैयारियाँ होने लगीं, धाराएँ बह चलीं, कम्पन तीव्र हो गए, ग्रन्थियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया, प्रवेग जुट गए, मंथन क्रिया प्रारम्भ हो गई। क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ प्रारंभ हो गई और तब तक चलती रहीं जब तक वस्तुओं ने अलग-अलग रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया। सृष्टि की क्रिया पूरे वेग में आ गई। सजीव और निर्जीव वस्तुएँ अस्तित्व में आने लगीं। कालान्तर में सभी पदार्थ प्रकाश में आए और ब्रह्माण्ड का निर्माण हो गया। केन्द्र के चारों ओर चक्राकार गति के कारण प्रकृति अस्तित्व में आई। गति ने शक्ति उत्पन्न किया जो बाद में सृष्टि का कारण बना। इस प्रारम्भिक गति या क्षोभ को जो ब्रह्माण्ड संबंधी घटना का कारण बना ईश्वर की गुप्त इच्छा से क्रियाशीलता प्रदान की गई। क्षोभ ने गुप्त शक्तियों को गति दे दी और सृष्टि एवं संजीवन की क्रिया प्रारम्भ हो गई। वही मौलिक बल जो क्षोभ या प्रेरक के रूप में था हर जीव में मुख्य क्रियाशील बल के रूप में उतरा। मनुष्य में यह मन के नाम से जाना गया जिसके मूल में वही गुप्त इच्छा है जैसी कि यह क्षोभ में थी। इस प्रकार मानव मन मौलिक बल या प्रारम्भिक क्षोभ के बहुत निकट रूप में है जिसका यह एक अंश है। अतः दोनों के कार्य भी बहुत कुछ समान हैं।

क्षोभ के कारण के सम्बन्ध में मैं कहूँगा कि सृष्टि कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व पूर्ण शांति विराजमान थी। यहाँ तक कि शक्ति या बल अपने मूल में जमे पड़े थे। तथापि परिवर्तन का समय आया। गति जागृत हुई और इसने चीजों को क्रियाशील बना दिया जिसका परिणाम प्रकृति को इच्छानुसार रूपों एवं आकृतियों का निर्माण हुआ। इन सब के मूल में कुछ ऐसा था जिसे हम एक क्रियाशील बल कह सकते थे। परन्तु इसे भी अपने लिए एक आधार की अपेक्षा है जिसके बिना यह अपना कार्य नहीं कर सकता है और यह मूलभूत सत्ता थी। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सृष्टि गति का परिणाम थी और गति आधार का, जो है और रहेगा।

आकाश और काल

सृष्टि के पूर्व सर्वत्र आकाश था। इस प्रकार ईश की सत्ता बाद का विकास था और इसने अपने प्रकटीकरण के लिए कुछ समय लिया। हम आकाश को अनन्त और शाश्वत पाते हैं इसलिए ईश्वर के भी शाश्वत होने का निष्कर्ष निकालते हैं। ईश्वर के सत्ता में आने के बाद काल आया। इस प्रकार आकाश ने ईश्वर की सृष्टि

के लिए माँ का कार्य किया और काल उसकी ऋणात्मक अवस्था थी। हर वस्तु का अन्त अन्तहीनता में है। गति भी हर वस्तु में थी चाहे यह कितना भी सूक्ष्म और अदृश्य होवे। कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि तब सृष्टि किसने की? इसका एक मात्र सम्मानित उत्तर यही हो सकता है कि ईश्वर और ब्रह्माण्ड के निर्माण की आवश्यकता के कारण आकाश के अस्तित्व में आने की आवश्यकता हुई। यह है और रहेगा और इसी कारण यह शाश्वत है। तब क्यों न आकाश की उपासना की जाय? निश्चय ही इसके बारे में ऋग्वेद में एक संकेत है परन्तु ठीक-ठीक स्पष्टीकरण के अभाव में रहस्य अनावृत और अस्पष्ट ही रहा है। यदि कोई व्यक्ति अपने में आकाश की दशा उत्पन्न कर ले तो वह उच्चतम बिन्दु तक पहुँचा हुआ ही है जो निषेध की अन्तिम दशा के समान है और जिसके लिए सबको आकांक्षा करनी चाहिए। निःसंदेह ही हल आश्चर्यजनक है और साथ ही साथ पूरी तरह ठीक भी। आकाश निरपेक्ष (परम) है। यह कणों से नहीं बना है न तो इसमें कोई क्रियाशीलता है। यह पूर्णतया शुद्ध और अमिश्रित है। वास्तव में इसको सबकी समझ में लाना बहुत कठिन है।

आकाश देश है और अवकाश समय, दोनों एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। काल को जो आकाश की सृष्टि है, आकाश की स्थूल अवस्था के रूप में ले सकते हैं। तथ्य यह है कि ब्रह्माण्ड काल अथवा अवकाश का व्यक्तीकरण है जबकि ईश्वर आकाश का। भीतरी वृत्त ने बाहरी ब्रह्माण्ड का निर्माण किया। बीच का भाग अन्तराल है। यदि मध्य भाग सहित बाहरी आवरण समाप्त हो जाता है जैसा कि महा प्रलय के समय होता है तब केवल आकाश शेष बचता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनन्यता आकाश के रूप में परिवर्तित हो जाती है; अथवा दूसरे शब्दों में अनन्यता आकाश है।

जिस समय सृष्टि नहीं थी और केवल एक परम तत्व ही विद्यमान था 'काल' अथवा 'समय' का प्रश्न ही नहीं उठता। जब मौलिक आधार में सृष्टि के विचार का उद्भव हुआ उस समय इसमें कुछ भी नहीं था। यह चलता रहा और गति के कारण शक्ति में परिवर्तित हो गया जिसकी प्रवृत्ति क्रियाशीलता अथवा कार्य की रही। परन्तु कार्य होने के लिए निश्चित ही एक क्षेत्र अथवा आधार की आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रथम मौलिक विचार एवं तत्पश्चात उत्पन्न होने वाली वस्तु के बीच का संक्षिप्त ठहराव (अन्तर) अथवा दूसरे शब्दों में कारण एवं कार्य के बीच का संक्षिप्त ठहराव पहले से ही विद्यमान था। इसे हम समुचित रूप से 'अवधि' अथवा 'काल' या 'समय' कह सकते हैं और उसके कार्य के लिए क्षेत्र बन गया। इस प्रकार काल शक्ति में विलीन होकर सृष्टि की आगे की क्रिया के लिए स्वयं ही शक्ति स्वरूप हो

गया।

सामान्य नियम के अनुसार विचार जब गहराई में चला जाता है तो एक प्रकार का ठहराव उत्पन्न करता है जिसमें बहुत अधिक शक्ति होती है। केन्द्र के सम्बन्ध में गहराई का प्रश्न बिल्कुल ही नहीं उठता क्योंकि उसमें पूर्ण समरसता है। केन्द्र में शक्ति के वेग का विचार मन की सीधी क्रियाशीलता, आदि का भी अभाव था क्योंकि केन्द्र अथवा परम ब्रह्म तत्व होते हुए भी मन–विहीन था।

इस प्रकार प्रथम विचार एवं कार्य के बीच में मात्र एक शक्ति रही जिसे हम 'काल' अथवा समय कहते हैं। वही शक्ति हमारी समग्राहता के अनुसार हमें भी प्राप्त हुई। अब इस शक्ति के उपयोग के लिए हमें इसे केन्द्र जो सब कुछ एवं परम तत्व है की बृहत्तर शक्ति में, विलीन करना होता है। इस संसार में कोई भी वस्तु यहां तक कि आधुनिक विज्ञान का मेगाटन बम भी इस शक्ति की बराबरी नहीं कर सकता। आधुनिक विज्ञान अभी तक कदाचित इसके महत्व को पूरी तरह नहीं समझ सका है और यदि इसने समझ भी लिया होता तो इसका प्रयोग केवल विनाशकारी कार्यों के लिए ही करता।

जो भी हो इस शक्ति को पृथ्वी पर उतारा जा सकता है और तीव्र इच्छा शक्ति के प्रयोग द्वारा कार्य में लाया जा सकता है। उच्चतम शिखर पर पहुंचे हुए योगी के पास यह शक्ति ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विद्यमान रहती है। मेरे विचार से भौतिक विज्ञान को इस महान शक्ति की जो वस्तुतः सभी शक्तियों का मूल है, जानकारी के बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता।

जीव और ब्रह्म

जीव, व्यष्टि आत्मा जब अपनी विलग सत्ता धारण कर लेता है तो इसे अपने 'होने' का अभिज्ञान हो जाता है और वही इसके अस्तित्व में आने का आधार बन जाता है। प्रारम्भ में जीव और ब्रह्म एक दूसरे के बिल्कुल समान थे, और यह केवल जीव की विलग सत्ता थी जिसने दोनों में अन्तर पैदा कर दिया। अब, जीव, आत्मा मानों अह अथवा विलग सत्ता के भाव से घिरे हुए रूप में अस्तित्व में आ गया। जिस क्षेत्र में यह था उसने भी इस पर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया। एक के बाद दूसरे बहुत से वर्ण इसके चारों और जमने लगे जिनसे इस पर एक नया ही रंग चढ़ गया। एक प्रकार से इसमें विविधता बैठने लगी और धीरे–धीरे अहं विकसित होने लगा तथा गाढ़ा और घना होने लगा। इस स्थूलता के निर्माण में भावना, संवेग और इच्छाओं ने अपना योगदान देना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार जीव ने एक स्वर्णिम पक्षी की भांति अपने आप को देह के लौह पिंजर में पूरी तरह फंसा दिया। यह विचार, संवेग, भावना और इच्छाओं (अहं के क्षेत्र में) की क्रिया–प्रतिक्रिया के

फलस्वरूप हुआ जिससे इसकी अपारदर्शकता बढ़ती गई। यह एक शब्द में जीव का पूरा इतिहास है। अब सुयोग से जब कभी यह किसी के गतिशील सम्पर्क में आता है जो इसे इसके मूल का स्मरण करा देता है तो यह एक के बाद दूसरा पर्दा उतार फेंकने लगता है। परन्तु चूंकि जीव में गति होती है अतः इसे निर्माता अर्थात ब्रह्म का भी अभिज्ञान होता है। इस प्रकार जीव शब्द अपने में गति एवं चिन्तन का भी अर्थ रखता है। ये दोनों चीजें जीव में समानान्तर होती हैं। इस प्रकार ब्रह्म और जीव दोनों का कार्य लगभग वही है, अन्तर मात्र इतना है कि ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आवृत करता है जबकि जीव केवल अहं (स्व) केसंकीर्ण क्षेत्र तक सीमित रहता है। इस अर्थ में ब्रह्म को भी अपना बन्धन रखने वाला कह सकते हैं जैसे कि जीव, परन्तु अन्तर कदाचित यह है कि जीव का बन्धन ब्रह्म के बन्धन की अपेक्षा गाढ़ा और स्थूल होता है। सीमाओं से दोनों ही आबद्ध हैं। यह ब्रह्म की ठीक—ठीक धारणा का निरूपण है।

प्रकृति में समानान्तरता

सृष्टि के अस्तित्व में आने के पहले केवल देवत्व मात्र अपने मौलिक रूप में अस्तित्व में था और हर वस्तु अपने सत्व रूप में इसमें विलीन थी। क्षोभ के साथ व्यक्तीकरण की क्रिया प्रारम्भ हुई जिसने गुप्त गति के क्षेत्र में मंथन संचारित किया। क्रियाशीलता पुनर्जागृत हुई और इसके साथ बल संयुक्त हो गया और व्यक्तीकरण की दिशा में अपना कार्य प्रारम्भ किया। यह कार्य रेखा हालांकि दैवत्व से पूरी तरह ऐक्य में थी, फिर भी अपने बाह्य रूप में उससे कुछ भिन्न प्रतीत होती थी क्योंकि उसने व्यक्तीकरण के उद्देश्य से एक दूसरा मार्ग अपना लिया था। इस कारण से इसे मनुष्यत्व (मानवता) की रेखा से प्रदर्शित किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य के निर्माण से इसका निकट का सम्बन्ध था।

दैवत्व और मनुष्यत्व दोनों की रेखाएं अब साथ—साथ एक दूसरे के समानान्तर कार्यशील हैं। परन्तु चूंकि सृष्टि प्रारम्भिक उद्देश्य था मनुष्यत्व प्रमुखता प्राप्त करने लगा और मनुष्य समेत हर वस्तु एक बोधगम्य रूप धारण करने लगी यद्यपि प्रारम्भ में सूक्ष्मतम थी। दूसरे शब्दों में मनुष्यत्व की रेखा सम्पूर्ण ढांचे का आधार बनी। परन्तु इसका कार्य देवत्व के गुप्त कार्य के अधीन ही रहा जो इसके समानान्तर ही स्थित था। अतः बल के ठीक—ठीक संचालन से विभिन्न रूप और आकृतियां बनती गई। तथ्य यह है कि मनुष्यत्व उतनी अच्छी तरह कार्य कर ही नहीं सकता था यदि यह दैवत्व के साथ—साथ और समानान्तर न चला होता। संक्षेप में मनुष्यत्व ने अपने को दैवत्व से संयुक्त होकर इसके समानान्तर चलकर अपने को सुव्यवस्थित कर लिया।

कार्य की वृद्धि होती गई और मनुष्य अन्य सभी वस्तुओं के साथ–साथ स्थूलतर रूप धारण करता गया। मनुष्य की संरचना में हर वस्तु मनुष्यत्व के वर्ग में आती है और हर वस्तु के मूल में दैवत्व होता है। इसी कारण से यह कहा जाता है कि ईश्वर मनुष्य में है और सभी धर्म यही विचार रखते हैं। अतः हमारा अन्तिम उद्देश्य तभी पूरा होगा जब हम दैवत्व से कदम से कदम मिला कर चलें तथा इससे अपने मनुष्यत्व की रेखा को जोड़ लें।

अब चूंकि दोनों एक ही महान ईश्वर परम तत्व से निकले हैं मनुष्यत्व भी देवत्व की भांति शुद्धतम अवस्था में था। इसमें उस समय क्रियाशीलता का बल नाम मात्र को था या कहा जा सकता है कि यह सुषुप्तावस्था में था। क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के कारण झटके एक प्रकार की जागृत अवस्था संचारित करने लगे तथा कम्पन एवं विरोधाभास दृष्टि में आने लगे। ताप या शीत भिन्न–भिन्न मार्ग अपनाने लगे जिससे निर्माण की वृद्धि हुई। यह सभी वस्तुएं मनुष्य की संरचना में प्रवेश कर गई और अस्तित्व में होने वाली सभी वस्तुओं का पिंड हो गया। अब हमें जो कुछ भी करना है वह यह है कि उन्हें फिर से उनकी मौलिक अवस्था प्रदान कर दें अथवा दूसरे शब्दों में उन्हें संतुलित और शान्त अवस्था में पुनःस्थापित कर दें जिससे उनका दैवत्व से सम्बन्ध बना रहे। इसे प्राप्त करने का एक मात्र तरीका उनमें उचित संतुलन पैदा करना है और हम सहज मार्ग में वही करते हैं।

यह प्रकृति का रहस्य है जिसे मैंने यहां खोला है ताकि लोगों को पूर्ण दैवीकरण के पूरे–पूरे अर्थ को समझाया जा सके।

अवतार

सच कहा जाय तो हम ने ही उन उपादानों को एकत्र कर जिन्होंने उसे आधार दिया, एक लघु सृष्टि बना ली है। इसमें ईश्वर का काम नाम मात्र को था अर्थात् प्रारम्भिक इच्छा का झटका देना, जिसने क्षोभ उत्पन्न किया। सभी चीजों का मूल वह द्रव्य (पदार्थ) था जो सत्य रूप में विद्यमान था जिस प्रकार सभी यंत्रों का आधार पृथ्वी में पड़ा लोहे का अयस्क। इच्छा के झटके में पूरा वेग था जो अब भी है और अन्त तक रहेगा। इस अर्थ में सृष्टि का प्रारम्भ और अन्त दो छोरों की भांति है जिसमें एक ही प्रकार का वेग है। बीच का स्थान जो वास्तविक बल से बना था मुख्य औजार था जिससे ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण ढांचा अस्तित्व में आया। इसमें बहुत अधिक शक्ति है और विद्युतधारा की भांति झटके देती है। मध्य भाग केन्द्र का कार्य करता है उसमें थोड़ा नीचे मुख्य बल है जो क्रियाशीलता प्रदान करता है तथा जो कारण का कार्य करता है। एक और भी बिन्दु है जो केन्द्रीय बिन्दु से थोड़े ही मिलीमीटर दूर प्रतीत होता है जहां पर संजीवनी बल पूरे संतुलन में स्थित रहता है। बहुत दूर

से देखने के कारण मैं इसे केवल कुछ मिलीमीटर कहता हूं। परन्तु यदि कोई शरीर की सीमा से परे जाकर उसका सूक्ष्म निरीक्षण करे तो उसे यह दूरी अनन्त प्रतीत होगी। केन्द्रीय बिन्दु से हम जितना ही दूर चलते जाते हैं बल उतना ही क्षीण होता जाता है तथा यही हम लोगों की वास्तविकता से निकट के सम्पर्क का द्योतक है। क्षीण बल मनुष्य के भाग्य में पड़ता है जब कि केन्द्रीय बिन्दु का तीव्र बल अवतारों के, जो उस बिन्दु की दशाओं से पूरी तरह आवेशित रहते हैं। अवतार के रूप में श्रीकृष्ण केन्द्रीय बिन्दु के क्षेत्र से आए हैं जबकि राम दूसरे सिरे से। इसी कारण उनमें मानवीय गुणों की साम्यता अधिक थी। वह जीवन का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करते हैं जैसा एक मनुष्य के रूप में प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति को प्रयास करना चाहिए।

कुछ लोगों का विचार है कि अवतारों की अनन्यता नहीं होती। मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूं क्योंकि यदि उनके अनन्यता न होती तो वे उनके निर्धारित कार्य करने के उद्देश्य से शारीरिक रूप से कार्य न कर सकते। अपने कार्य के लिए उन्हें भी एक भौतिक शरी र की आवश्यकता होती है जिसमें वृद्धि और विकास होता है। अनन्यता उनके लिए भी परम आवश्यक है जैसा कि यह किसी के लिए भी है।

अवतार एक निश्चित प्रयोजन से आते हैं और जो कार्य उन्हें सौंपा गया रहता है उसके लिए सभी आवश्यक शक्तियां उनमें होती हैं। दूसरे शब्दों में वह उनके लिए संस्कार का कार्य करती हैं जिसने उन्हें संसार में उतारा। जब उनका कार्य समाप्त हो जाता है तो शक्ति उन्हें वापस खींच लेती है।

एक साधारण मनुष्य और अवतार में अन्तर यह है कि मनुष्य अगणित पर्तों से ढंका रहता है जब कि अवतार उनमें से अधिकांश से मुक्त होता है। दैवत्व उनकी दृष्टि में होता है जबकि मनुष्य उससे वंचित रहता है। यद्यपि मनुष्य और अवतार की जड़ एक ही है फिर भी अवतार दैवत्व के निकट सम्पर्क में रहता है। वह हर वस्तु जिसकी उसे आवश्यकता होती है अक्षय भंडार से सुलभ हो जाती है। अपने कार्य संचालन के लिए वह दैवी आदेश प्राप्त करता है जो देव वाणी के रूप में प्रसिद्ध है। अब चूंकि अवतार क्रियाशील होते हैं अत: उनके लिए मानस का भी रखना आवश्यक है। परन्तु उनका मानस शुद्ध और अधिक संतुलित होता है; और उनके कार्य दैवी इच्छा के अनुरूप होते हैं। इसलिए यह मानना कि अवतारों को मानस नहीं होता, गलत है।

जहां तक वर्तमान विशिष्ट व्यक्तित्व, जो कार्य रत है के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूं कि वह केन्द्रीय बिन्दु से उतरा है अत: अत्यधिक शक्ति रखता है। हालांकि हमारे बाह्य दृष्टि को वह मन्द और दबा हुआ प्रतीत हो सकता है। अभी तक

जितने भी अवतार पृथ्वी पर आए उनमें किसी को भी मूल की शक्ति नहीं प्राप्त थी। मैं यह अपने प्रकृति के अध्ययन के आधार पर ईश्वर की कृपा से व्यक्त कर रहा हूं जो ही एक मात्र चीजों को जानने वाला है।

3
ज्ञान और इसकी प्रकृति

सामान्य अर्थ में ज्ञान का अर्थ जानकारी है जो कई प्रकार की हो सकती है यथा–भौतिक, मानसिक, द्रव्यात्मक अथवा आध्यात्मिक। आध्यात्मिक अर्थ में यह शब्द इतनी अस्पष्टता से प्रयोग किया जाता है कि अक्सर इसका वास्तविक महत्व समझना असम्भव हो जाता है। इसका विस्तार निम्नस्तरीय सामान्य जानकारी से लेकर आन्तरिक प्रकाशन के स्तर तक है। इससे बहुत अधिक भ्रम और गलतफहमी पैदा होती है। एक मनुष्य जिसने कुछ आप्तग्रंथों का अध्ययन कर लिया अथवा अन्य जो पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर वाद–विवाद कर सकता है अथवा है जो हर क्षण "अहं ब्रह्मास्मि" जैसे पिटे पिटाए पद समुदायों का उच्चारण करता है ज्ञानी कहलाने का दावा करने लगता है और जन समुदाय उसे इस रूप में स्वीकार भी कर लेता है चाहे उसकी आन्तरिक अवस्था जो भी हो। वास्तविक अर्थ में ज्ञान का तात्पर्य मन की उस आन्तरिक अवस्था से है जिसका विकास अभ्यासी के अपने प्रयास के विभिन्न ग्रन्थियों पर आध्यात्मिक स्थितियों से गुजरने में होता है। ज्ञान वास्तव में विभिन्न ग्रन्थियों में व्याप्त व्यवस्थाओं की अनुभूति है। चूंकि ग्रंथियां असंख्य हैं अतः ज्ञान भी अभ्यासी की पहुंच के स्तर के अनुरूप भिन्न–भिन्न होता है। इस प्रकार एक व्यक्ति को बिना उसके पहुंच का स्तर अथवा उसके ज्ञान की सीमा जाने ज्ञानी कहना निरर्थक है। अन्तर्प्रकाशन (ज्ञान) की वास्तविक अवस्था तब आती है जब हम उसकी पूर्ण चेतना में डूब जाते हैं और इसका प्रभाव शोषित कर इसमें अपना विलीनीकरण कर लेते हैं। जब हम यह अवस्था विकसित कर लेते हैं और इसकी चेतना में विलीन हो जाते हैं, हम इसके बारे में सब कुछ जान लेते हैं और इस प्रकार उस स्तर के ज्ञानी हो जाते हैं। यदि हम अपने विचार का बल प्रयोग करके ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो यह केवल कृत्रिम होगा न कि सही और उचित। किसी अवस्था के वास्तविक ज्ञान का अर्थ उस अवस्था से पूर्ण सायुज्यता है, जिसमें हम विलीन हो चुके होते हैं। विभिन्न अवस्थाओं पर ज्ञान से हमें जो सहायता मिलती है वह यह कि यह हममें अन्तिम तत्व की खोज के लिए उत्कट आकांक्षा उत्पन्न करती है।

अज्ञान एवं ज्ञान एक ही वस्तु के दो छोर हैं एक निश्चित सीमा तक इसे अज्ञान कहते हैं उसके बाद यह ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। वह एक चुम्बक के दो ध्रुवों

की भांति है। इस तरह अविद्या का अस्तित्व विद्या बिना और विद्या का अविद्या के बिना संभव नहीं है। यदि एक है तो दूसरे को भी होना ही है। इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञान के पर्दे के फटने पर विद्या और अविद्या दोनों की समाप्ति हो जाती है। अविद्या की परिधि में विद्या और अविद्या दोनों का सम्पूर्ण क्षेत्र आ जाता है। 'तम' की अवस्था वह है जो दोनों से परे है। यही वास्तव में आत्म साक्षात्कार की स्थिति होती है जिसमें न विद्या होती है न अविद्या। तब वहां क्या है? इनमें से कोई भी नहीं—एक अवस्था जिसमें पूर्ण गुप्ति, पूर्ण अनभिज्ञता अथवा पूर्ण ज्ञान शून्यता जिसे लगभग अबोध की अवस्था जैसा कि शैशव काल में होता है, कह सकते हैं। अज्ञानता वास्तव में ज्ञान की पराकाष्ठा होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम अज्ञान के स्तर से प्रारम्भ करते हैं और ऊंचे अज्ञान (अथवा मैं जिसे पूर्ण अज्ञान कहता हूं) की स्थिति में समाप्त करते हैं। ज्ञान का क्षेत्र (सामान्यतया प्रचलित अर्थ में) केवल एक माध्यमिक मंजिल है। वास्तव में, यह जहां तक ज्ञान का क्षेत्र है, वह सब सचमुच अज्ञानावस्था है।

अज्ञान के पर्दे के फटने के बाद जो उदित होता है उसे क्या ज्ञान कहा जा सकता है? निश्चय ही नहीं, हालांकि दोनों विपरीत दशाओं को दृष्टि में रखने पर लोग ऊपरी तौर पर ऐसा ही कहते हैं। तो क्या यह ज्ञान का अर्थ रखता है? नहीं, ज्ञान का अर्थ है उसकी चेतना होना जो 'स्व' के परे है। आत्म साक्षात्कार का अर्थ परम तत्व से एकीकरण अथवा उसमें विलीनीकरण है। उस स्थिति में ज्ञान का प्रश्न कभी उठ ही नहीं सकता। तब उसे क्या कहा जा सकता है—ज्ञानहीनता, अनभिज्ञता, अज्ञानता अथवा और कुछ? संक्षेप में यह उसी प्रकार की कोई चीज हो सकती है यद्यपि इसको शब्दों में व्यक्त करना लगभग असम्भव ही है। पूर्ण अज्ञान जैसा कि मैंने कहा है संभवत: सबसे ठीक जान पड़ता है।

ऐसा माना जाता है कि एक व्यक्ति जो आध्यात्मिकता के मार्ग पर चलता है अंधकार से प्रकाश की ओर जाता है। मान लिया जाय कि अंधकार अविद्या है (जैसा कि सामान्यतया प्रदर्शित किया जाता है) और प्रकाश विद्या। सहज मार्ग में प्रकाश को ध्येय नहीं स्वीकार किया जाता है। यह मात्र एक बीच की अवस्था है जिससे होकर हम अन्तिम स्थिति की यात्रा करते हैं, जो न तो प्रकाश है न अन्धकार, अपितु दोनों से परे। हम आरम्भ तो अवश्य ही अविद्या से करते हैं और विद्या से होकर उस स्थिति को जाते हैं जो न तो अविद्या है न विद्या अपितु दोनों से परे। उस स्थिति को जो न तो प्रकाश है न अन्धकार अथवा न तो अविद्या है न विद्या, किस शब्द द्वारा ठीक-ठीक व्यक्त किया जा सकता है? क्या विश्व के शब्द भंडार में उसके लिए कोई शब्द है? निश्चय ही नहीं। इसलिए इसे जैसा कि मैं कहता हूं—'पूर्ण अज्ञान' ही

कहा जाय, जो प्रारम्भिक अज्ञान की स्थूलतम अवस्था से भिन्न है।

उपाय : तर्क, श्रुति और अनुभव

सामान्यतया दार्शनिकों ने चीजों के हीर तक पहुंचने का प्रयास तर्क से न कि अन्तर्दृष्टि से किया है। प्रचलित अर्थ में तर्क दोषपूर्ण हो सकता है और हमें धोखा हो सकता है परन्तु यदि किसी चीज को अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि से, तर्क के अनावश्यक माध्यम के बिना देखा जाय तो यह अपने मौलिक रूप में बिना किसी अशुद्धि या दोष के दिखाई पड़ेगा। हम लोगों को चीजों को तब समझने लगना चाहिए जब ग्रन्थियां अपने आप खुलने लगें।

पुस्तकों से प्राप्त पथ प्रदर्शन बहुत लाभकर नहीं होता क्योंकि यह बहुधा भ्रामक होता है और कभी–कभी खतरनाक भी। जो पद्धतियां पुस्तकों में बताई गई होती हैं, वे सामान्यतया अस्पष्ट होती हैं, जो केवल बाहरी पहलू को स्पर्श करती हैं। एक व्यक्ति केवल औषधियों के नाम और उनके गुण जान लेने से वैद्य नहीं हो सकता। आम के स्वाद के बारे में पूरी जानकारी केवल इसका वर्णन पुस्तकों में पढ़ने से नहीं हो सकती।एक प्रसिद्ध कहावत है कि पकवान (पुडिंग) का आनन्द खाने में है।ऊपर से वेदों में विरोधाभास प्रतीत होता है। दर्शन की छः धाराएं इसी का प्रतिफलन है। हर व्यक्ति अपनी पहुंच के अनुसार एक या दूसरी बात कहता है। वास्तविक अध्ययन वह है जिससे हम अपरिवर्तशील की अनुभूति करने लगें और उसकी अनुभूति न तो पढ़ने, न विश्वास करने से, न तर्क से अपितु अतिचेतनात्मक दृष्टि से होती है। मैं खुले तौर पर स्वीकार कर सकता हूं कि मैंने कोई पुस्तक नहीं पढ़ी है क्योंकि मैंने कभी उन्हें उपयोगी नहीं समझा। मैंने वास्तविकता पर ध्यान रखा जिसे मैंने एक मात्र प्राप्तव्य वस्तु समझा और पुस्तकों का अध्ययन विद्वानों और पंडितों के लिए छोड़ दिया। मैं जो कुछ भी कहता हूं या लिखता हूं वह हमारे निजी अनुभव के आधार पर है, इस बात से कोई तात्पर्य नहीं कि शंकर या रामानुज अथवा अन्य लोगों ने क्या विचार व्यक्त किया है। निःसंदेह मैं अब कभी–कभी पढ़ता हूं परन्तु वह केवल मनोरंजन के लिए—और जितना हो सकता है याद रखने की कोशिश करता हूं ताकि अपने भावों को आसानी से व्यक्त कर सकूं। मुझे याद है कि मैंने इस प्रकार की एक चीज शंकराचार्य के विवेक चूड़ामणि में पढ़ी थी जिसका अर्थ है "पुस्तक आत्मसाक्षात्कार में सहायक नहीं होते और जब आत्मसाक्षात्कार हो जाता है तो पुस्तक निरर्थक हो जाती हैं।"

पापियों के लिए नरक है, अज्ञानियों के लिए स्वर्ग और अबोधों के लिए ब्रह्मलोक। परन्तु बुद्धिमानों और विद्वानों के लिए उन्हीं के द्वारा निर्मित एक कृत्रिम स्वर्ग है और उनके लिए भी जो इस मृर्त्युलोक में निर्बल हैं। परन्तु कौन निर्बल हो

सकता है? ये वे लोग हैं जो आत्म निर्भरता और आत्म–विश्वास नहीं रखते। शास्त्र एक दूसरे का परस्पर विरोध करते हैं परन्तु हमारे लिए उनका मूल्य है क्योंकि वे हमें सोचने और एक हल पर पहुंचने का अवसर प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी एक और अच्छाई है कि वे हर पसन्द, प्रवृत्ति और मानसिक स्तर के लोगों को आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपाय और पद्धति बताते हैं। यदि मैं आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर पुस्तकों के जरिये चला होता तो अज्ञान के उस स्तर तक कभी नहीं पहुंचा होता जो दैवत्व का आधारभूत गुण है। यह केवल व्यावहारिक जीवन है जो प्राप्त करने योग्य है। हमें केवल यह जानना ही नहीं चाहिए कि आत्मसाक्षात्कार क्या है परन्तु इसे प्राप्त करने का प्रयास भी करना चाहिए।

4

मनुष्य—ब्रह्माण्ड में उसका स्थान और नियति

मेरा परामर्श यह है कि यह ब्रह्माण्ड किस प्रकार अस्तित्व में आया इस बात पर गहन विचार करने के बजाय हमें उस सत्ता की प्रशंसा करनी चाहिए जिसने इसे अस्तित्व प्रदान किया। हम लोगों ने अपने व्यक्तिगत द्रव्यात्मक अस्तित्व की एक सृष्टि निर्मित कर ली है और उस पर स्थूलता और अपारदर्शकता की पर्त दर पर्त चढ़ा ली है। अब करना यह है कि उस अपारदर्शकता को एक के बाद दूसरे को उतार फेंका जाय तथा परमरूप जैसा कि सृष्टि के समय था धारण कर लिया जाय।

हम लोगों का वर्तमान ठोस रूप में अस्तित्व न तो आकस्मिक है न तो संयोगवशात् अपितु यह विकास की मंद प्रक्रिया का परिणाम है। उस गुप्त गति को जिससे ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ सर्वशक्तिमान का प्रथम अतिमानस कह सकते हैं। हम लोगों के उद्गम का सम्बन्ध उस मन से है जिसे हम प्रथम मन कहते हैं। मन के पीछे केन्द्र या तम की अवस्था है। आत्मा के अस्तित्व का पता काल के परिप्रक्ष्य में सृष्टि के समय तक लगाया जा सकता है जब कि यह अपने नग्न रूप में एक अलग सत्ता के रूप में था। हम लोग आत्मा के आरम्भिक और सूक्ष्मतम रूप से प्रारंभ कर स्थूल तथा स्थूलतर अस्तित्व के रूप में विकसित हुए। इन्हें आत्मा के चारों ओर आवरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। प्रारम्भिक आवरण सूक्ष्मतम प्रकार के थे और उन घेरों में हम अपने निवास स्थान—ईश्वरीय मंडल में विद्यमान थे। अहं की और अधिक आवरणों की वृद्धि होती रही और तत्पश्चात स्थूल रूप में मानस चित्, बुद्धि और अहंकार हमारी स्थूलता में और भी अधिक योगदान करने लगे। कालान्तर में संस्कारों का निर्माण होने लगा जिसने उनका संघातोत्पन्न (Resultant) प्रभाव पैदा किया। गुण और दोष प्रगट हुए। धीरे—धीरे हमारे अस्तित्व ने घनतम रूप धारण कर लिया। संस्कारों का प्रभाव सुख, दु:ख, हर्ष और विषाद की भावना का प्रारम्भ है। सुख और हर्ष के प्रति हमारी पसन्दगी तथा दु:ख और कष्ट के प्रति नापसन्दगी ने और भी अधिक जटिलता पैदा कर दी। फलत: हम दर्द और कष्ट से घिरे रहते हैं और सोचते हैं कि उनसे छुटकारा पाना हमारा मुख्य ध्येय है।

मनुष्य एक द्विध्रुवीय सत्ता है। इसका मूल आधार के अत्यन्त समीप है तथा

दूसरा छोर संसार की ओर है। यदि किसी प्रकार इसका पिंड मन ब्रह्माण्ड मन को मुड़ जाता है तो यह अपने असली रंग में दिखाई देने लगता है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य का मन उस क्षोभ का परिवर्तन है जिसने प्रकृति की शक्ति को गति प्रदान की, जिससे सृष्टि अस्तित्व में आयी। इस प्रकार व्यक्ति मन ईश्वरीय मन (क्षोभ) का एक अंश है। यदि हम किसी प्रकार इसके अधोमुखी प्रवृत्ति की आधार की ओर मोड़ दें तो यह स्थिर और प्रशान्त हो जायगा। जहां तक मेरा व्यक्तिगत अनुभव है मैं पाता हूं कि एक गतिशील व्यक्तित्व की सहायता ही इसे आधार की ओर मोड़ सकती है। इस प्रकार के व्यक्ति की शक्ति और इच्छा ही केवल इस दिशा में सफलता प्रदान कर सकते हैं। पढ़ने–लिखने से कोई लाभ नहीं है। श्रद्धा–भक्ति और आत्मविश्वास युक्त व्यक्ति विजयी होता है।

मनुष्य प्रकृति का औजार है। उसमें अपार शक्ति है और उस शक्ति के उपयोग के लिए आवश्यक यंत्र रखता है। वह आश्चर्यजनक यंत्र मन है और मात्र मनुष्य की सम्पत्ति है। ईश्वर के पास भी जिसे हम पूजा का विषय मानते हैं–मन नहीं होता। ऐसा कहा जाता है कि पशुओं के पास मन होता है परन्तु वह एक दूसरे का होता है। यों कहिए कि यह मनुष्य का मन जो जीवन और क्रियाशीलता से परिपूर्ण होता है की अपेक्षा निष्क्रिय होता है। मन का स्रोत प्रथम क्षोभ में है जो ईश्वर की इच्छा से हुआ ताकि सृष्टि अस्तित्व में आ सके। जब मानव मन की प्रकृति ऐसी है तो आभासी महात्माओं के लिये यह बहुत ही अनुचित बात है कि इसे कठोरतम दुर्वचन कहें तथा इसे मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु घोषित करें। वे इसके वास्तविक मूल्य और गुण पर ध्यान नहीं देते। वास्तव में यह ही एक मात्र यंत्र है जिससे चीज क्रिया रूप में लाई जाती है। यह लघु रूप में मौलिक ईश्वरीय शक्ति है जिसने मनुष्य की लघुसृष्टि को अस्तित्व प्रदान किया। यह वही शक्ति है जो सब चीजों के मूल में क्रियाशील है। यह किसकी शक्ति है, ईश्वर की या मनुष्य की? उत्तर आसान है। यह निश्चय ही मनुष्य की है क्योंकि ईश्वर के पास मन नहीं होता। यदि उसके पास भी यह होता तो वह भी संस्कारों के अधीन हो जाता। इसलिये निश्चित रूप से यह मानव मन ही है, जो मूल में कार्य करता है।

मनुष्य शरीर के प्रत्येक कण में अपार शक्ति है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इससे निकट रूप से सम्बन्धित होता है। मेरुदण्ड का प्रत्येक बिन्दु महत्तम शक्ति से परिपूर्ण है। परन्तु इस पर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है। लोग कुण्डलिनी के लिए ही शोर मचा रहे हैं तथा इसको जगाने के लिए आतुर हैं। विभिन्न बुद्धि कोष्ठकों के नाभिकों की संरचना में प्रयुक्त प्रत्येक कण का अपना शक्तिशाली बल है जो कुण्डलिनी के बल से कहीं अधिक है। परन्तु किसी भी व्यक्ति ने इसे मानवता

की भलाई के लिए प्रयोग नहीं किया है। मेरे विचार बहुत से ज्ञानियों को स्वीकार नहीं होंगे और यदि मैं उन्हें इसे प्रदर्शित भी करूं तो वे इतने सुग्राहक नहीं होंगे कि इसकी अनुभूति कर सकें। तथापि एक समय अवश्य आएगा क्योंकि इसे आना ही है जब लोग इसे समझेंगे और अनुभव में लाएंगे।

मानवीय और दैवी समानान्तरत्व का अंत

सामान्य तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर ने अपने ही स्वरूप में मनुष्य का निर्माण किया। संसार के सभी धर्म, दर्शन और विज्ञान लगभग इस बात पर सहमत हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि ईश्वर का भौतिक रूप वैसा ही है जैसा कि मनुष्य का अर्थात् हाड़, मांस, त्वचा का बना मनुष्य जिसके हाथ पांव तथा अन्य अंग होते हैं। इसका असली अर्थ यह है कि वह सभी शक्तियां, बल और ऊर्जा जो प्रकृति में विद्यमान है मनुष्य के पास उसी क्रम में हैं या वह उनसे बना है।

मनुष्य की संरचना बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि ब्रह्माण्ड की। जिस प्रकार इस ठोस बाह्य ब्रह्माण्ड के पीछे अगणित दूसरे ब्रह्मांड हैं जो अधिक से अधिक सूक्ष्म हैं उसी प्रकार मनुष्य के इस स्थूल भौतिक रूप के पीछे सूक्ष्मतर रूपों का अस्तित्व है। सबसे बाहरी रूप स्थूल शरीर का है जिसके पीछे सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर है। इन तीन बाहरी रूपों के अतिरिक्त अन्य अगणित रूप हैं जो इतने सूक्ष्म हैं कि विचारक उन्हें शरीर न कह कर आत्मा के चारों ओर के आवरण कहते हैं। इन अगणित आवरणों में प्रत्येक को एक नाम देना वास्तव में बहुत कठिन है। इन समस्त अगणित सूक्ष्मतम से स्थूलतम रूपों के साथ मनुष्य द्रव्यात्मक जगत में ब्रह्माण्ड की सत्य–प्रतिलिपि या ईश्वर की संपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में अस्तित्व में है। मनुष्य का अस्तित्व और ईश्वर की अभिव्यक्ति एक पूर्ण वृत्त के सबसे बाहरी परिधि से लेकर सबसे भीतरी केन्द्र या शून्य की भांति एक ही है। यही कारण है कि ईश्वर का साक्षात्कार और आत्मसाक्षात्कार तथा इसके विलोम का एक ही अर्थ है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी बिन्दु, शून्य से निःसृत होकर विकास की प्रक्रिया से अस्तित्व में आया। उसी प्रकार मनुष्य का अस्तित्व भी उसी बिन्दु से विकसित हुआ।

हम एक ऐसे देश के निवासी हैं जिसमें आध्यात्मिक धारा किसी न किसी रूप में सदैव बहती रही है। हमारा पोषण ही 'वास्तविकता' से जिससे हम निकले हैं मिलने के लिए हुआ है। हम अपने साथ अनन्त का असली सत्व लाए हैं। कहा जाता है कि ईश्वर मनुष्य में है। इस प्रकार हमारा अन्तिम उद्देश्य तभी पूरा होगा जब हम दैवत्व से कदम से कदम मिला कर चलें और उसे अपनी मनुष्यत्व की रेखा से जोड़ लें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सृष्टि के उद्गम में मनुष्यत्व दैवत्व के समान था, और विकास के क्रम में क्रिया-प्रतिक्रिया के झटके के कारण स्थूल रूप धारण

कर लिया। हमें पुनः मानव अस्तित्व के ढांचे के सभी अवयवों को संतुलन और शान्ति की मौलिक अवस्था में ला देना मात्र है जिससे कि इसका दैवत्व से सम्बन्ध बना रहे। यह उनमें उचित सन्तुलन प्रवेश करा कर प्राप्त किया जाता है और सहज मार्ग में हम वही करते हैं। ध्यान के दैनिक अभ्यास का वास्तविक उद्देश्य उनमें से अपनी इच्छा की क्रिया से असन्तुलन को निकालना ही होता है ताकि सन्तुलन बना रहे। इस प्रकार हमारा मनुष्यत्व दैवत्व में रूपान्तरित होने लगता है। वही वास्तव में मनुष्य के दैवीकरण पद का ठीक अर्थ होता है। ऐसा हो जाने पर समानान्तरत्व का अन्त हो जाता है और दैवत्व और मनुष्यत्व–दोनों एक हो जाते.हैं। फिर भी मनुष्यत्व की पूर्ण समाप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक एक मनुष्य शरीर धारण किए रहता है। इस प्रकार सहज मार्ग प्रणाली में ध्यान के प्रभाव से हम मनुष्यत्व की रेखा के साथ कार्य करने वाले बल की प्रचंडता को कम करते जाते हैं। दैवत्व इस प्रकार बढ़ता जाता है और समानान्तरत्व कम होता जाता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्यत्व दैवत्व के बल से आवेशित होता जाता है जो कालान्तर में चारों ओर फैलने लगता है। जब अवस्थाएं पूरी तरह स्थिर हो जाती हैं, समानान्तरत्व समाप्त हो जाता है और मनुष्यत्व अपने सृजनात्मक बल के साथ नगण्य स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अनन्त ईश्वर की भांति, मनुष्य भी पहुंच के उस उच्चतम स्तर पर मानवीय सीमा के अन्दर उसी प्रकार का हो जाता है। जब मानवीय सीमाएं समाप्त हो जाती हैं, 'स्व' का विस्तार असीम हो जाता है यहां तक कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने में ही समाहित मालूम होता है। तब यदि ब्रह्माण्ड में कहीं भी कोई घटना होती है तो उसकी प्रतिध्वनि हृदय में होती है। प्रकृति के अन्तर्गत हर चीज तब उसकी जानकारी और दृष्टि में होती है।

साक्षात्कार और उसका उपाय

स्मरणातीतकाल से ईश्वर–साक्षात्कार को मानव पुरुषार्थ और अस्तित्व के उद्देश्य के रूप में उद्‌घोषित किया जाता रहा है, विशेषकर भारत में। परन्तु ईश्वर (अन्तिम वास्तविकता) के बारे में भाव के समान ईश्वर साक्षात्कार का भाव भी रहस्य की ऐसे पर्तों से ढंका हुआ है कि तर्क और विज्ञान का एक निष्ठावान व्यक्ति इस पद के जिक्र मात्र से ही विरक्ति का अनुभव करने लगता है।

बहुत से विद्वान संतों ने साक्षात्कार की अवस्था को कई प्रकार से परिभाषित किया परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जहां तक यह परिभाषित किया जा सकता है, साक्षात्कार नहीं है। यह वास्तव में एक मूक अवस्था है, जो अभिव्यक्ति के परे है। अन्दर या बाहर दीप्ति का अनुभव करना या देखना साक्षात्कार बिल्कु., नहीं है। अपने अभ्यास के प्रारम्भिक काल में मैंने अक्सर दीप्ति का अनुभव किया और देखा।

परन्तु चूंकि वह उद्देश्य नहीं था, मैं अपने गुरुदेव के सतर्क अवलम्बन में आगे बढ़ता गया। वास्तव में यह एक स्वादहीन अवस्था है—सतत एवं अपरिवर्तनीय। उसमें शब्दों के प्रचलित अर्थ में कोई लुभावनापन, आकर्षण या आनन्द नहीं है। इसे अधिक समुचित ढंग से संग–ए–बेनमक (अर्थात् नमक का एक ढोका जिसमें से नमकीनपना निकाल दिया गया हो) कहा जा सकता है। साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् एक व्यक्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में अचूक इच्छा–शक्ति विकसित कर लेता है। सामान्यतया विद्वान व्यक्ति साक्षात्कार और इसकी अवस्थाओं के बारे में शिक्षा के आधार पर विचार व्यक्त करते हैं न कि अपने प्रायोगिक ज्ञान के आधार पर, जो वास्तविक होता है। इस कारण मुझे दु:खपूर्वक कहना पड़ता है कि साक्षात्कार आजकल की कला हो गया है। वास्तविकता गहराई में डूब गई है और उनके मानसिक पसंदगी और कौशल के रंगों के अनुरूप अपना रंग छोड़ गः । परिणाम यह है कि लोग अपना ध्यान उन्हीं चित्रकारियों पर ही केन्द्रित करते हैं और उसमें उस सीमा तक जाते हैं जो न तो आध्यात्मिकता है न वास्तविकता। मेरा विश्वास है कि एक मनुष्य को आध्यामिकता के विषय को तब तक नहीं स्पर्श करना चाहिए जब तक कि उसने इसे सच्चे अर्थों में प्राप्त न कर लिया हो जिससे उसमें दैवी प्रज्ञा जागृत हो गई हो। समस्या के हल के लिए केवल व्यावहारिकता के जीवन की आवश्यकता है।

साक्षात्कार को अच्छी प्रकार एक अपरिवर्तनशील अवस्था के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जो कदाचित ही सहस्त्रों वर्षों में मनुष्य को प्रदान की जाती है। परन्तु यदि किसी को एक ऐसा गुरु प्राप्त करने का संयोग प्राप्त हो जाता है जो इसे पूरी तरह प्राप्त कर चुका है और अभ्यासी भी अत्यधिक रुचि रखने वाला और निष्ठावान है तो यह बिल्कुल सुलभ हो जाता है। परन्तु जब तक 'है' अस्तित्व का भाव विद्यमान रहता है यह पूर्ण साक्षात्कार नहीं है। इससे तात्पर्य निकलता है कि आनन्द भी एक कमी है।

लोग अक्सर मुझसे कहते हैं कि उन्हें पहले यह बता दिया जाय कि साक्षात्कार क्या है तब वे उपासना करना प्रारम्भ करेंगे। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई यह कहे, "पहले मुझे शेक्सपीयर या मिल्टन के विचारों को समझ लेने दीजिए फिर मैं वर्णमाला सीखने की कोशिश करूंगा।" यह वही बात है जैसे कोई अभ्यासी कहे—"मुझे पहले ईश्वर की अनुभूति कर लेने दीजिए तब मैं उसकी उपासना प्रारम्भ करूंगा।" जब वही वस्तु जो आप चाहते हैं आपको प्राप्त हो जाती है तब आप उसकी पूजा करें ही क्यों? वही ऊंचाई पर चढ़ सकता है जिसने अपनी नीची अवस्था की पहचान अपने में कर लिया है। आध्यात्मिक असंतोष को ठीक ही भारतीय दर्शन की परम्परा

में दार्शनिक प्रयासों का प्रारम्भ बिन्दु माना गया है।

दैवी व्यक्तित्व की विद्यमानता के कारण आजकल साक्षात्कार अत्यन्त सरल हो गया है। लोगों का विचार आमतौर पर मुक्ति के आगे नहीं जाता जिसे वे मानव पहुंच की अन्तिम सीमा मान लेते हैं। परन्तु वह एक गलत विचार है। तथ्य यह है कि मुक्ति दैवी मार्ग पर निम्नतम कोटि की उपलब्धि है, अतः यह एक बच्चे को खेलने के लिए खिलौने की भांति है। उसके आगे अभी बहुत कुछ प्राप्त करने को है। अभी अनन्त सागर सामने है जो केवल निःस्सीम फैलाव है। अपनी दृष्टि को 'उस' पर और केवल 'उसी' पर टिकाओ और 'उसे' ढूंढ़ने के लिए बढ़ते ही जाओ।

निर्विकल्प समाधि भी एक यौगिक उपलब्धि है पर यह समस्या का हल नहीं करेगी। समाधि की वास्तविक अवस्था वह है जिसमें हम शुद्ध एवं सरल वास्तविकता से प्रतिक्षण जुड़े होते हैं। इसमें कोई बात नहीं कि कोई सांसारिक कार्य और दायित्वों में सदैव कितना व्यस्त है। इसे सहज समाधि कहते हैं जो उच्चतम उपलब्धियों में एक और निर्वाण का आधार है। इसके गुणों को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है परन्तु उसके द्वारा अनुभव किया जा सकता है जो इसमें रहता है। यह उतना आसान नहीं है जितना इसके नाम से प्रदर्शित होता है। संत कबीर ने इसकी बड़ी प्रशंसा की थी और यही प्राप्त करने योग्य वस्तु है।

साक्षात्कार के लिए असंख्य उपाय और अभ्यास हैं जिनमें से हमें उसे चुनना है जो शीघ्र सफलता का आश्वासन देता है। अब यह क्या हो सकता है, हर व्यक्ति अपने आप तय करे। संकेत के तौर पर मैं स्वामी विवेकानन्द के न्यायोचित विचार से इस मसले पर सहमत हूं कि यह राजयोग ही है जो एक व्यक्ति को सफलतापूर्वक पहुंच के उच्चतम स्तर तक ले जा सकता है; और केवल वह व्यक्ति ही गुरु बनने के योग्य है जो प्राणाहुति द्वारा अपनी आन्तरिक शक्तियों को प्रयोग करने की क्षमता रखता है।" मैं आपको विश्वास दिला सकता हूं कि हठयोग की पहुंच आज्ञा चक्र के आगे नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें एक और भी गंभीर दोष है। जब हम हठयोग के शारीरिक अभ्यास से प्रारंभ करते हैं, तो पृष्ठभूमि में 'स्व' के भाव के साथ-साथ भौतिक प्रयासों की भी चेतना सदैव बना रहती है। इस प्रकार उसमें अहं घटने के बजाय बढ़ता जाता है। परन्तु राजयोग के साथ ऐसी बात नहीं है, जिसमें व्यक्ति मन को सदैव क्रियाशील प्रवृत्तियों को शान्त करने के लिए सूक्ष्मतम उपाय के साथ आगे बढ़ता है। इसके अतिरिक्त इसका अभ्यास करते समय व्यक्ति शरीर के भाव से सदैव दूर रहता है क्योंकि उसने अपना ध्यान सूक्ष्मतम पर टिका रखा है।

सूक्ष्म सत्ता की अनुभूति के लिए हमें उन उपायों को अपनाना चाहिए जो वैसे

ही बारीक और सूक्ष्म हों। कठिनाई तब पैदा होती है जब सरल समस्या के हल के लिए जटिल पद्धतियां लगाई जाती हैं। दूसरे शब्दों में वे एक छोटी सी सिलाई की सुई उठाने के लिए बड़ा क्रेन इस्तेमाल करते हैं। ईश्वर सरल है और सरल तरीके से पाया जा सकता है। इसलिए उसकी अनुभूति के लिए हमें उन उपायों को अपनाना चाहिए जिनके जरिये हम अपनी ही इच्छाओं, कार्यों एवं वातावरणों द्वारा निर्मित चीजों से अपने को मुक्त कर सकें। हमारे सभी विचार नियंत्रित होने चाहिए और हमारा व्यष्टि मन इस पर पड़े बोझों से रहित होना चाहिए। हमें रूई की भांति हल्का होना चाहिए ताकि हम एक योग्य गुरु के एक ही धक्के से उसकी (ईश्वर) और अपनी उड़ान प्रारम्भ कर दें। हमारी संस्था में इच्छा के पहले झटके में ही वास्तविकता प्रवेश करा दी जाती है जो अन्ततोगत्वा बीज का कार्य करती है। प्रक्रिया का प्रारम्भ सामान्यतया व्यक्ति के गुरु द्वारा कराया जाता है ताकि बीज आसानी से उग सके और गर्म वायु इसे झुलसा न दे। अभ्यासी सतत अभ्यास द्वारा इसका सिंचन करता है जो ही एक मात्र वस्तु है जिसकी साक्षात्कार के मार्ग में आवश्यकता है।

जीवन के वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए गृहस्थाश्रम कोई बाधा नहीं है। मेरा विचार है कि यह सर्वोत्तम आश्रम है जिसमें उच्चतर पहुंच सुगम है। मैं एक गृहस्थ हूं और गुरुदेव भी एक गृहस्थ थे। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि एक पूर्ण संत केवल इसी आश्रम में मिल सकता है। हम अपना कर्तव्य करते हैं और उसे (ईश्वर) अन्तिम वास्तविकता के रूप में याद करते हैं।

5
साक्षात्कार का मार्ग
(अभ्यासी की भूमिका)

वैराग्य

यह सत्य है कि यदि हम वैराग्य न पैदा करें तो माया से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपने घर, परिवार और अन्य सांसारिक सम्बन्धों से सम्बन्ध विच्छेद कर एक धार्मिक भिक्षुक का जीवन अपना लें। मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूं जिनके अनुसार वैराग्य उत्पन्न करने का एक मात्र मार्ग सारे सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर परिवार से दूर किसी निर्जन स्थान में निवास करना है। इस प्रकार का हठात् त्याग शायद ही कभी सच्चा उतरता पाया जाता है क्योंकि बहुत संभव है इस प्रकार के संसार से अलगाव–बिलगाव के बावजूद वे अन्तर में उससे चिपके रहें। निःसंदेह हमें एक गृहस्थ के रूप में बहुत सी बातों पर ध्यान देना होता है। हमें अपने परिवार का पोषण करना होता है। हमें अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करना होता है; हमें उनकी आवश्यकताओं पर ध्यान देना होता है; हमें उन्हें शीत–ताप से बचाना होता है; इत्यादि। इन आवश्यकताओं के लिए हम कमाते और धन–सम्पत्ति रखते हैं। वास्तविक बुराई तो अपने से सम्बन्धित वस्तुओं से हमारा अनावश्यक राग ही है। यही हमारे दुःख का मुख्य कारण है। परन्तु यदि हम इस योग्य हो सकें कि हर कार्य अपना कर्तव्य समझकर बिना किसी आकर्षण–विकर्षण के कर सकें तो हम एक प्रकार से सांसारिक बन्धनों से मुक्त हैं और संसार का हमने वास्तविक अर्थ में त्याग कर दिया है। हालांकि हम बहुत सी चीजें रखते हैं तथा उनका उपयोग करते हैं। तब हमारी हर वस्तु, हमें सौंपे गए कर्तव्यं को करने के लिए, ईश्वर की पवित्र धरोहर मालूम पड़ेगी। त्याग, वास्तव में सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य की भावना है न कि उनका असंचयीकरण। इस प्रकार गृहस्थ जीवन, जिसमें सांसारिक सम्बन्धों एवं वस्तुओं का रखना अनिवार्य है, त्याग तथा साक्षात्कार के मार्ग में कोई अवरोध नहीं है। परन्तु तभी जब व्यक्ति अपने से सम्बन्धित वस्तुओं से अनावश्यक रूप से चिपका न हो। संतों के ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं जिन्होंने उच्चतम कोटि की पूर्णता सारे जीवन गृहस्थाश्रम में रहकर ही प्राप्त किया है। त्याग, वास्तव में मन की एक आंतरिक अवस्था है जो वस्तुओं के क्षणिक और परिवर्तनशील स्वभाव को उजागर करती है तथा ऐसी

वस्तुओं से वैराग्य की भावना पैदा करती है। उसकी दृष्टि प्रतिक्षण वास्तविकता पर टिकी रहती है जो अपरिवर्तनशील और अक्षर है। और, वह आकर्षण–विकर्षण की भावना से मुक्त रहता है। वैराग्य का यही वास्तविक अर्थ है। जब हमारे मन की यह अवस्था हो जाती है तो हम इच्छाओं से छुटकारा पा जाते हैं। जो कुछ भी हमें मिल जाता है हम उसी से संतुष्ट रहते हैं। इच्छाओं का अन्त होने का अर्थ संस्कारों के निर्माण का बन्द हो जाना है। इसके बाद जो बचा रहता है वह पूर्वकृत संस्कारों का केवल भोग है जिन्हें अपने जीवन में समाप्त करना होता है। प्रकृति भी इस प्रक्रिया में भोग के लिए क्षेत्र बना कर हमारी सहायता करती है जिससे हमारे कारण शरीर पर से हमारे विचारों और कार्यों के भोग (संस्कार) मिट सकें। जब यह आवरण पिघल जाते हैं तो हम अस्तित्व के सूक्ष्म रूपों को धारण करने लगते हैं।

जो भी व्यक्ति इस संसार में पैदा होता है उसे कष्ट का स्वाद लेना ही पड़ेगा। इनसे कोई बच नहीं सकता। जब मैं संसार को देखता हूं, इसे बहुत कष्टप्रद पाता हूं। कुछ लोग शारीरिक पीड़ा से कहर रहे हैं, कुछ अपने प्रियजनों के निधन से दुःख पा रहे हैं और अधिकांश लोग हर पग पर सफलता प्राप्ति के लिए बेचैन दीख पड़ते हैं। हम इनसे छुटकारा पाने के लिए तपस्या करते हैं। ऋषियों ने तो तपस्या के प्रति अपने को पूर्णरू. . समर्पित किया है। जो भी राग से उत्पन्न होता है दुःख है। कष्ट एवं आनन्द दोनों दुःख के सहायक (सृजन कर्ता) हैं। शुद्धतम प्रकार के ईश्वरीय विचार के प्रति अपने को समर्पित करने के अतिरिक्त इन दुःखों से छुटकारा पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

संसार को त्याग कर तपस्या के लिए जंगलों में जाने की हमें आवश्यकता नहीं है। सांसारिक और आध्यात्मिक जगत दोनों को साथ–साथ समान रूप से देदीप्यमान होते हुए चलने देना है। यदि कोई व्यक्ति अपना गृहस्थ धर्म निभाते हुए ईश्वर साक्षात्कार भी करता है तो वह किसी भी प्रकार घाटे में न रहेगा। यदि हमें सफलता प्राप्त करनी है तो हमें दोनों पंखों से उड़ना है। सामान्य लोगों की यह एक भोंड़ी धारणा है कि ईश्वर को जंगलों में ही ढूंढा जा सकता है। पर मेरा विचार है कि उसे हृदय में ढूंढ़ना चाहिए। एक आदमी घरेलू कार्य करते हुए भी ईश्वर भक्ति में व्यस्त रहता है। आप कह सकते हैं कि इन दोनों चीजों में विसंगति और विरोध है। पर बात ऐसी नहीं है। अन्त में ईश्वरीय प्रज्ञा कार्य करने लगती है और आदमी पराबुद्धि से अपना कर्तव्य करता है।

इस प्रकार वैराग्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मनुष्य पूरी तरह दैवत्व की ओर झुका हुआ हो। जब ऐसा होता है तो वह स्वाभाविक रूप से स्वयं अपने और अपने से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति भी अन्यमनस्क सा रहने लगता है। इस प्रकार

वह न केवल शरीर चेतना खो देता है अपितु आत्मचेतना भी। उसके बाद जो बचता है वह मृतप्राय रहनी अथवा जीवित शव की दशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ध्यान—सहज मार्ग की प्रशिक्षण—प्रणाली में हम पातंजलि योग के सातवें सोपान, ध्यान से प्रारम्भ करते हैं और इसके अभ्यास के लिए हम अपने मन को एक बिन्दु पर नियत करते हैं। उसके पूर्व के सोपान अलग से नहीं लिए जाते हैं पर जैसे—जैसे हम ध्यान में बढ़ते हैं स्वतः ही आते—जाते हैं। इस तरह से हमारे बहुत सारे श्रम और समय की बचत हो जाती है। कुछ संस्थाओं में अभ्यास के लिए नियत पद्धति को बहुधा गुप्त रखा जाता है। केवल औपचारिक रूप से संस्था को अपनाने वालों को ही बताया जाता है। इसका क्या उद्देश्य है समझ में नहीं आता। प्रकृति ने कोई चीज गुप्त नहीं रखी है और मैं सोचता हूं कि दैवी मार्ग पर चलने वालों को भी कुछ गुप्त नहीं रखना चाहिए।

हमारी संस्था में हृदय पर ध्यान की प्रणाली है। पतंजलि ने भी वही विधि अनुमोदित की है। इसके अन्दर एक बड़ा दर्शन निहित है। हम सदैव अपने को सांसारिक चीजों में व्यस्त पाते हैं। यदि हमारे पास कोई कार्य नहीं है तो हमारी खाली घड़ियों में हमारे विचारों को मानो पंख लग जाते हैं। हम सदा ही उथल—पुथल में और अव्यवस्थित से रहते हैं। हमारा व्यक्तिगत मन इस प्रकार की एक विशेष क्रियाशीलता का आदी हो गया है। और इस प्रकार हमने हर चीज को उलटा—पलटा कर दिया। हमारे बुरे कार्यों में हमारे विचारों और कार्यों का बड़ा योगदान होता है। जब हम विभिन्न प्रकार की भावनाओं और विचारों के सम्पर्क में रहते हैं तो वे हमारी भाव प्रवण अनुभूतियों और इंन्द्रियों पर छाप छोड़ देते हैं। सभी इन्द्रियां विकृत हो जाती हैं और गलत मार्ग अपना लेती हैं। इस प्रकार की छाप इन्द्रियों की चट्टान की भांति ठोस बना देती है जिनमें कोई बोध नहीं होता। निश्चय ही आत्मा इससे अप्रभावित रहती है परन्तु हम ऐसे अवरोध और आवरण उत्पन्न कर लेते हैं कि यह ककून (रेशम के कीड़े) की भांति उनसे ढका या लिपटा रहता है। हम आत्मा में झांक भी नहीं सकते हैं। इसके साक्षात्कार की तो बात ही छोड़ दीजिए। अपने दूषित विचारों और कार्यों से हम अपनी विवेक शक्ति और सत्य—परख की क्षमता को भ्रष्ट कर देते हैं। जिन लोगों में इस प्रकार की ठोसता घर कर लेती है वे राजयोग की दीक्षा नहीं लेना चाहते हैं। इसलिए हम जो कुछ कहते हैं लोग अनसुना कर देते हैं। हठयोग का कितना भी अभ्यास वास्तविक साक्षात्कार नहीं करा सकता क्योंकि आज्ञाचक्र के बाद यह असफल हो जाता है और इसके बाद भी बहुत सी अवस्थाएं पार करने को रह जाती हैं। इसलिए राजयोग ही एक मात्र वह साधन है जो अंत तक ले जा सकता है। केन्द्र तक पहुंचने का कोई अन्य उपाय नहीं है। हमारे अन्दर वही

केन्द्रीय शक्ति है। यद्यपि कि वह हमारे गलत कार्यों से प्रभावहीन हो गई। ध्यान मेंहम उसी शक्ति से कार्य लेते हैं। हम इस प्रकार प्रकृति की शक्ति से ही स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ते हैं। जब हम ध्यान करते हैं तो हमारे अन्दर निहित केन्द्रीय शक्ति कार्यरत रहती है। यह अपनी शक्ति से घिरे हुए बने बादलों को अधिकांशतः तपा कर तितर–बितर कर देती है। इसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। केवल एक अभ्यासी ही इसका अनुभव कर सकता है। इसका ज्ञान व्यावहारिक रूप से ही प्राप्त किया जा सकता है। आप शीघ्र ही अपने को शाश्वत शान्ति और प्रसन्नता में तैरते हुए पायेंगे। यहां सब कुछ समाप्त हो जाता है। संसार के प्रति कोई लगाव नहीं रह जाता। मन अनुशासित हो जाता है, स्वतः ही नियंत्रित हो जाता है। इन्द्रियां वश में होने लगती हैं और उन पर आपका स्वामित्व हो जाता है। अपने पर अधिकार कर लेने का मतलब प्रकृति पर अधिकार कर लेना है। जब मार्ग साफ हो जाता है तो आप प्रकृति का कार्य अपने क्षेत्र और सीमा में पाते हैं, बल्कि आप स्वयं ही करने लगते हैं।

हमारी संस्था में अभ्यासी को हृदय पर ध्यान करने की सलाह दी जाती है। उसे हृदय में ईश्वरीय प्रकाश की विद्यमानता पर ध्यान करने को कहा जाता है। परन्तु उसे निर्देश दे दिया जाता है कि वह प्रकाश को किसी विशेष रूप या आकृति में, जैसे बिजली का बल्ब या मोमबत्ती आदि में, देखने की चेष्टा न करें। क्योंकि उस हालत में वहां दीख पड़ने वाला प्रकाश वास्तविक न होकर स्वयं उसकी ही सृजनात्मक कल्पना का विकास मात्र होगा। अभ्यासी को प्रकाश की केवल एक कल्पना मात्र लेकर चलने को कहा जाता है जिसके मूल में दैवत्व का विचार निहित हो। परिणामतः हम सूक्ष्मतम वस्तु पर ध्यान करते हैं जिसकी ही प्राप्ति हमें करनी होती है।

हृदय पर ध्यान करने की पद्धति यह है कि इसमें ईश्वरीय प्रकाश के बारे में सोचा जाय। जब आप इस प्रकार ध्यान करना प्रारम्भ करें तब आप केवल यह सोचें कि उसके अन्दर की ईश्वरीय ज्योति आपको आकर्षित कर रही है। यदि ध्यान के मध्य बाह्य विचार आपका पीछा करते हों तो उनकी परवाह न करें। उन्हें आने दीजिए पर आप अपने कार्य में लगे रहिए। अपने विचारों और भावों को अनाहूत अतिथि की भांति समझिये। इस पर भी यदि वे आयें तो ऐसा मानिए कि वे मालिक के हैं आपके नहीं। इस प्रकार का ध्यान अत्यन्त प्रभावशाली होता है और इच्छित परिणाम में कभी भी असफल नहीं हो सकता। प्रातःकाल एक निश्चित सुखासन में एक घंटे बिल्कुल स्वाभाविक रूप में बैठें। आपको केवल ध्यान करना चाहिए। आपको अपने विचारों से जो सामान्यतया ध्यान में आते हैं संघर्ष नहीं करना चाहिए। समाधि ध्यान का सहज और स्वाभाविक परिणाम है। जो लोग ध्यान के बजाय

समाधि पर बल देते हैं और उसी पर जबरदस्ती अपना मन लगाते हैं, आमतौर पर असफल ही होते हैं।

सायंकाल पुनः उसी मुद्रा में (जिसमें ध्यान किया जाता है) कम से कम आधा घंटा बैठना चाहिए और सोचना चाहिए कि दुरुहताएं, पूर्व विचारों के मतों का जाल, पौरुषता अथवा शारीरिक ठोसता सभी पिघल रहे हैं या पीछे से भाव के रूप में उड़कर निकल रहे हैं। यह आपको मन शुद्ध करने में सहायता देगा और अपने महान गुरु के लाभकर प्रभाव का ग्राहक बना देगा। ज्योंही मैं देखूंगा कि आप बाहरी तत्वों से मुक्त हो गए हैं, मैं इसे आवश्यकतानुसार या तो किसी और रूप में परिवर्तित कर दूंगा या आपको रुक जाने के लिए कह दूंगा। इस प्रकार हम चक्रों एवं उनकी उप–ग्रन्थियों को जगाते और साफ करते हुए ऊंची उड़ाने भरते हैं और कुण्डलिनी को सबसे अन्त में लेते हैं जिसके लिए अभ्यासी को स्वयं कुछ नहीं करना होता है। यह पूर्णतया गुरु पर निर्भर करता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि इन पद्धतियों का अभ्यास करते समय मन पर अत्यधिक जोर नहीं देना चाहिए बल्कि स्वाभाविक रूप से बैठना चाहिए। सफाई का यह अभ्यास प्रातःकालीन ध्यान के अभ्यास के पूर्व भी लगभग पांच मिनट तक करना चाहिए। अभ्यासी के व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार सफाई की अन्य विधियां भी बताई जा सकती हैं। उनके विस्तृत वर्णन की कोई यहां आवश्यकता नहीं है। यह कहना पर्याप्त होगा कि निर्मलीकरण अथवा सफाई की विधि विचार का मौलिक शक्ति का उपयोग मानव इच्छा के रूप में व्यष्टि आत्मा के परिष्कार के लिए करती है ताकि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तादात्म्य के सत्व के खड़े और फिसलनदार मार्ग पर आरोहण करने योग्य हो सके।

हर संत ने 'प्रकाश' शब्द का प्रयोग किया है और मैं भी इसको टाल नहीं सकता। क्योंकि 'वास्तविकता' की सुन्दरतम अभिव्यक्ति भी उसी से होती है। लेकिन वह कुछ दुरुहताएं भी उत्पन्न करता है, क्योंकि, जब हम प्रकाश की बात करते हैं तो प्रदीप्ति का भाव प्रमुख हो जाता है और हम उसे चमकता हुआ मानने लगते हैं। वास्तविक प्रकाश के साथ ऐसा कोई भाव नहीं है। निःसन्देह हमारी प्रणाली में अभ्यासी कभी–कभी प्रकाश देखता है। परन्तु झलकता प्रकाश केवल प्रारम्भ में दीख पड़ता है, जब द्रव्य ऊर्जा के सम्पर्क में आता है। दूसरे शब्दों में, यह केवल संकेत मात्र है। जिससे पता चलता है कि ऊर्जा ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। वास्तविक प्रकाश भोर के रंग का होता है अथवा रंगहीनता का एक हल्का परावर्तन जैसा होता है। यद्यपि प्रकाश उस वस्तु का बिल्कुल सही अनुवाद नहीं है, (क्योंकि प्रकाश में उस वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक गुरुता है), फिर भी उसे केवल संमझने के लिए ऐसे व्यक्त किया गया है। यदि अभ्यासी अपने को क्रमशः हल्का

महसूस करे तो समझना चाहिए कि वह प्रगति कर रहा है क्योंकि वह उस अवस्था में प्रवेश कर रहा है जिसमें ईश्वर स्थित रहता है। हल्केपन का मतलब स्वयं अपने ही विचारों के भार की अनुपस्थिति है। अतः वास्तविक प्रकाश का अर्थ वास्तविक तत्व अथवा अधिक ठीक ढंग से कहा जाय तो तत्वहीन तत्व है।

अभ्यासी की अपनी इच्छा और पूर्वाग्रहों से प्रभावित सभी कृत्रिम और त्रुटिपूर्ण बल प्रयोग हानिकर सिद्ध होते हैं—बहुधा असाध्य हो जाते हैं। इसलिए प्रकाश का देखना आदि कृत्रिमता से निर्मित नहीं करना चाहिए और न इस पर बल ही देना चाहिए। जब कभी ये पैदा होते हों तो उन्हें देख भर लें। उनके साथ कोई व्यक्तिगत राग नहीं होना चाहिए व्यक्तिगत राग की एकमात्र वस्तु अंतिम ध्येय साक्षात्कार होना चाहिए जिसे सदैव दृष्टि में दृढ़तापूर्वक रखना चाहिए और इसी को किसी भी निरर्थक और अदने बिखराव के विरुद्ध सबसे विश्वसनीय आश्वासन (गारंटी) होना चाहिए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि हानिकर त्रुटिपूर्ण विचार का एक उदाहरण यह है कि राजयोग का अधिकांश अभ्यासी ध्यान के हर अभ्यास के सत्र में बेचैनी से चेतना के केन्द्रीकरण की प्रतीक्षा पर बल देता है। यौगिक साधना के इतिहास में इस विचारधारा ने भारत तथा अन्य देशों में गजब ढा दिया है। संन्यासी का कड़ा जीवन, तपस्या और शारीरिक कष्ट देने की पद्धति आदि जिनका प्रयोग सामान्यतया मन को नियंत्रण में रखने के लिए किया जाता है उसको कुप्रवृत्तियों से मुक्त नहीं कर पाते। बल्कि दूसरी तरफ वे बुराई को अन्दर दबा देते हैं जिसका विस्फोट कभी भी संयोगवशात् नियंत्रण ढीला होने पर हो सकता है। समस्या का वास्तविक समाधान मन को दमन–शमन अथवा कष्ट देकर अस्वाभाविक तौर से नियंत्रित करने में नहीं अपितु इसके क्रमिक ढलाई में है जो इसकी कुप्रवृत्तियों से मुक्ति दिला सके। इसलिए इस तथा अन्य सभी मामलों में एक सच्चे विद्यार्थी की प्रवृत्ति अपनाने, हर चीज को समझने और प्राकृतिक रूप में कार्य करने तथा विकसित होने का अवसर प्रदान करने से अतिशीघ्र प्रगति होती है।

सामान्यतया मैं हृदय पर उस बिन्दु पर ध्यान करने की सलाह देता हूँ जहाँ पर आप उसकी धड़कन महसूस करते हैं। दूसरे बिन्दुओं जैसे नासिकाग्र या भ्रूमध्य, आदि पर भी ध्यान किया जा सकता है परन्तु मेरे विचार से हृदय पर ध्यान सबसे सरल और अत्यधिक लाभप्रद होता है। हृदय पर ध्यान करने में एक बड़ा दर्शन निहित है। हृदय रक्त संचार का (Pumping station) पम्प केन्द्र है। यह शरीर के हर हिस्से और छोटे से छोटे कोष को शुद्ध रक्त भेजता है। अब हमने हृदय को ध्यान के लिए केन्द्र बना लिया है। जो हमारी शारीरिक प्रणाली में रक्त प्रवाहित होता है वह इससे प्रभावित होता है। अपने ही विचारों और कार्यों के कारण बनी ठोसता पिघलने

लगती है। यह पहली चीज है जो हृदय पर इस प्रकार ध्यान करने से हम प्रथम दिन से ही प्राप्त करने लगते हैं। यही नाभिक है और जहां कहीं भी इसे निर्देशित किया जाता है वहाँ कम्पन को गति पैदा करता है। यह मन का कार्यक्षेत्र है और यह वह यंत्र है जिसके द्वारा हम विवेक संकाय का विकास करते हैं। दैवी ऊर्जा के अवतरण के लिए सूक्ष्मशक्ति यहाँ पर कार्य करती है। यदि किसी प्रकार हमारी विचारधारा इससे संयुक्त हो जाती है या हम इस प्रकार प्रशिक्षित करते हैं कि यह सही चीज को रिसा कर वास्तविकता की ओर मोड़ दे तो समस्या का हल मिल जाता है। लोग पूछ सकते हैं कि ध्यान करना क्यों आवश्यक है। उत्तर बिल्कुल सीधा और आसान है। ध्यान में हम अपने को एक बिन्दु पर एकत्र करते हैं जिससे कि हमारा व्यक्तिगत मन अपनी इधर–ऊधर भटकने वाली आदत को जो इसने डाल रखी है, छोड़ दे। इस अभ्यास से हम अपने व्यष्टि मन को सही मार्ग पर ला देते हैं क्योंकि इसकी आदतों में अब रूप–परिवर्तन होने लगता है। जब यह होने लगता है तो निश्चय ही हमारे विचार इधर–उधर नहीं भटकते हैं। हृदय ही एकमात्र ऐसा बिन्दु है जिस पर हमें जड़–चेतन को जोड़ने वाली कड़ी की स्पष्ट अनुभूति होती है। यही कारण है कि हृदय पर ध्यान बहुत लाभदायक है। इसके अतिरिक्त हृदय मन का कार्य क्षेत्र है। मन तो सदैव वैसा ही रहता है जैसा यह है। हृदय को ही मन के कार्यक्षेत्र के रूप में व्यवस्थित करना है। इसलिए, ध्यान के लिए सबसे उपयुक्त बिन्दु वह हो सकती है जहाँ से धारा बहती हो ऊपर या नीचे की ओर। यह हृदय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। त्रिकुटी (भ्रू–मध्य) को भी इस प्रयोजन के लिए ले सकते हैं परन्तु वह सामान्य मनुष्यों के लिए आसान नहीं है। क्योंकि वह अभ्यासी से बहुत अधिक श्रम की अपेक्षा करता है। और यदि अभ्यासी उचित ढंग से ध्यान का अभ्यास नहीं करता है तो बाद में उससे बहुत सी जटिलताओं के पैदा होने की सम्भावना रहती है। नाभि पर ध्यान का कोई आध्यात्मिक महत्व नहीं है सिवाय इसके कि इससे एक गुदगुदी पैदा होती है जो अन्त में मन और आवेगों को और भी अधिक तीव्र कर देती है।

अभ्यासी में एक निश्चित स्तर तक श्रद्धा विकसित हो जाने पर हम लोग सामान्यतौर पर प्रतीयमान रूप से मनुष्य रूप पर ध्यान करने पर बल देते हैं। आलोचक इसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए आत्मघाती बता सकते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रतिबन्ध यह है कि जिस व्यक्ति का ध्यान किया जाय वह विशेष क्षमता का हो और आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए द्रव्यहीन परम बिन्दु से आया हो अथवा सर्वोत्कृष्ट स्वप्रयास से इस कार्य के लिए आवश्यक आध्यात्मिक विकास का स्तर प्राप्त कर चुका हो।

ध्यान की पूर्व तैयारी

जब मनुष्य में मूल स्रोत में वापस जाने का विचार स्पन्दित हुआ तो उसके लिए आवश्यक हो गया कि वह इस गुप्त क्रियाशीलता को यथा संभव गुप्त क्रियात्मकता प्रदान करे। वह इसके लिए उपाय ढूँढ़ने लगा। अंत में उसकी समझ में यह आया कि जिस प्रकार गुप्त गति परम स्थिति–जिससे वह सम्बन्धित था–से अपेक्षाकृत ठोस थी, उसी प्रकार उसे भी किसी ठोस का सहारा लेना चाहिए ताकि वह वास्तविकता के वांछित आदर्श को प्राप्त कर सके। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि उसे अपने में एक प्रकार की सिकुड़न या अन्तर्खिंचाव पैदा करना चाहिए जैसा कि प्रलय के समय हुआ था। आत्मा जिस प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है उसी प्रकार मनुष्य में सर्वव्याप्त है–यहाँ ब्रह्माण्ड का अर्थ समुच्चयार्थ में लिया गया है। जब सिकुड़न प्रारम्भ हो जाता है तब प्रलय की स्थिति शुरू हो जाती है। मनुष्य में उस प्रकार की सिकुड़न उसे व्यक्तिगत प्रलय की ओर ले जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपनी ठोस अवस्था से वास्तविक अवस्था की ओर जाने लगता है। सिकोड़ सदैव नीचे से प्रारम्भ होता है और अपनी ऊर्ध्वमुखी प्रवृति के कारण शनैः–शनैः ऊपर की ओर जाता है। इसलिए ऊपर की ओर जाने के लिए आवश्यक है कि वह नीचे से सिकुड़न आरम्भ करे। सिकुड़न का रूप केवल यही हो सकता है कि अपने पैरों और तत्सम्बन्धित अंगों को एक मुद्रा में लाएँ तथा उन्हें स्थिर रखें। चाहे जिस किसी भी तरीके से यह किया जाय। अंत में उसका रूप एक आसन ही हो जाएगा। यह आवश्यक है क्योंकि यह अन्तिम स्थिति (Ultimate) के लिए हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। मुद्रा सदा वही होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि इस प्रकार वह अपने को बड़ी शक्ति– उसी चीज से संयुक्त कर लेता है जिसे वह अपने उद्देश्य विशेष की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ में ही ले लेता है। अतः वास्तविकता से संयुक्त वह रूप (मुद्रा) उसे उसके आरंभिक अभ्यास में अत्यधिक सहायक होता है।

बहुत प्राचीन काल से ध्यान की अवस्था में रीढ़ की हड्डी, गरदन और सिर का एक सीधी अवस्था में होना अत्यंत लाभदायक माना गया है क्योंकि ऐसा विश्वास रहा है कि दैवी कृपा की धारा इस मुद्रा में अभ्यासी पर सीधी उतरती है। परन्तु हमारी पद्धति में इस पर विशेष बल नहीं दिया जाता है। मैं अभ्यासियों को सामान्यतौर पर प्राकृतिक रूप में आसान मुद्रा में बैठने की सलाह देता हूँ। वे लोग भी जो दृढ़ और सीधी मुद्रा अपनाते हैं मन की आनन्ददायक लवलीनता प्रारम्भ होने पर अपने आप ही थोड़ा आगे की ओर झुक जाते हैं। इसलिए चेतना की उच्चतर अवस्थाओं तक पहुँचने के लिए भी इसे अधिक प्राकृतिक माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि एक अपेक्षाकृत कम महत्व की बात पर किसी प्रकार का विवाद अप्रासंगिक प्रतीत होता

है।

ध्यान के लिए प्रातः भोर में बैठना अच्छा होता है, अथवा यदि यह संभव न हो तो कभी भी अभ्यासी की सुविधानुसार निश्चित समय पर बैठना चाहिए। बाहरी चीजों से परेशान नहीं होना चाहिए बल्कि अपने कार्य में संलग्न रहना चाहिए और ऐसा सोचना चाहिए कि अभ्यास में अधिक लीन हो जाने की आवश्यकता महसूस कराने में वे एक प्रकार से सहायक हो रहे हैं।

प्रार्थना

अभ्यास के रूप में एक और चीज यह है कि सोते समय अत्यन्त शरणागत भाव में, दैवी प्रेम से लबालब हृदय से प्रार्थना (हे नाथ!...)* की जाय। अपने मन में प्रार्थना को एक या दो बार दुहराना चाहिए और कुछ क्षणों तक इस पर ध्यान करना चाहिए। प्रार्थना इस प्रकार करना चाहिए जैसे कोई अत्यन्त दीन–हीन व्यक्ति अपने कष्टों को अत्यन्त विषादयुक्त हृदय से सद्गुरु ईश्वर के सम्मुख रख रहा हो तथा अश्रुपूरित नेत्रों से उसकी दया और कृपा की याचना कर रहा हो। तभी वह सुपात्र जिज्ञासु हो सकता है। ईश्वर से प्रेम करने के कई तरीके हैं और कई भावों को अपनाया जाता है यथा पितृभाव, सख्य भाव आदि। मेरे विचार से प्रेमी और प्रेमास्पद से सुन्दर कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कोई अभ्यासी अपने को प्रेमी और ईश्वर को प्रेमास्पद मान ले और उसी भाव से चले तो इसका परिणाम यह होगा कि अंत में ईश्वर स्वयं प्रेमी और अभ्यासी प्रेमास्पद बन जायेगा। परन्तु यदि कोई ऐसा समझ ले कि इस स्तर पर उसने लक्ष्य की प्राप्ति कर ली है तो यह भारी भूल होगी। इसके आगे क्या बचता है कहा नहीं जा सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल अभ्यास से है। प्रार्थना सफलता का सबसे महत्वपूर्ण और अचूक उपाय है। इसके जरिये हम पावन दैवत्व से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। प्रार्थना प्रेम और भक्तिपूर्ण हृदय से इसीलिए की जानी चाहिये कि व्यक्ति अपने में एक प्रकार की शून्यता पैदा करे जिससे ईश्वरीय कृपा के प्रवाह को उसकी ओर मोड़ा जा सके। जब संसार वर्तमान रूप में निकला तो केन्द्रीय बिन्दु सभी अस्तित्वों के भीतर बैठा था। यह हममें बैठा हुआ केन्द्रीय बिन्दु उच्चतम का अंश होने के नाते हमारा ध्यान स्रोत की तरफ ले जाता है। प्रार्थना में हम उसी केन्द्रीय बिन्दु तक पहुँचने का प्रयास करते हैं यह तभी संभव है जब हम अपने अन्तर में उसी प्रकार की अवस्था उत्पन्न करें। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। यह अपने को ईश्वर की इच्छा–जो अत्यन्त सरल और शान्त है–पर छोड़ देने से प्राप्त किया जा सकता है। देखने में यह बहुत कठिन प्रतीत होता है परन्तु उनके लिए जो इसके इच्छुक हैं, ऐसा नहीं है। जब कोई व्यक्ति अपने में 'परम' के लिए तीव्र तड़प पैदा करता है तो वास्तव में प्रार्थना की

दशा में रहता है। हर व्यक्ति को इसके लिए प्रयास करना चाहिए। जब कभी कोई मनुष्य एक क्षण के लिए भी उस दिशा में प्रवेश कर जाता है तो उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जाती है। परन्तु इस कार्य के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है। लोगों को इस प्रकार की प्रार्थना करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति इसे प्राप्त कर लेता है और इसमें स्थिर हो जाता है तब उसके लिए सिवाय स्मरण के और क्या शेष रह जाता है, और वह भी इस रूप में कि यह कभी उसकी चेतना में भी नहीं आता।

सतत स्मरण

ईश्वर का सतत स्मरण वास्तव में, आध्यात्मिकता की एक विशेष विद्या है। सतत स्मरण पैदा करने का तरीका यह है कि अपनी खाली घड़ियों में चाहे कार्यालय में हों या घर में, गलियों में या बाजारों में, दृढ़ विश्वास के साथ यह सोचा जाय कि ईश्वर सब पर और सब जगह विद्यमान है और आप उसके बारे में सोच रहे हैं। जितनी लम्बी अवधि तक हो सके उसी विचार में निमग्न रहने का प्रयास करें।

लोगों का मन हर क्षण भौतिक जीवन की विविध समस्याओं के सोच–विचार में लीन रहता है। और उनका ध्यान ईश्वर की ओर सिवाय दारुण विपत्ति और कष्ट के अवसरों के कभी नहीं जाता। कारण यह है कि वे अपने मूल्यों को ही मूलभूत महत्व देते हैं और कभी भी, किसी भी हालत में उससे बाहर आने की नहीं सोचते। साक्षात्कार में अन्तिम सफलता के लिए बार–बार ईश्वर का स्मरण यद्यपि काफी सहायक है फिर भी सब कुछ नहीं है। हम सामान्यतया कोई महत्वपूर्ण कार्य ईश्वर का नाम लेकर प्रारम्भ करते हैं। यह क्रिया लगभग हर धर्म में प्रथा के रूप में प्रचलित है। परन्तु वह केवल औपचारिकता की बात है। उसका कोई महत्व नहीं है। यह उसे कभी भी सच्चे अर्थ में ईश्वर को समर्पित नहीं करते। सच बात तो यह है कि हम ईश्वर के विचार से कोसों दूर रहते हैं। इस प्रकार के ईश्वर स्मरण से कोई लाभ नहीं है। इस प्रथा का वास्तविक महत्व यह है कि हम अपने मानसिक और भौतिक कार्यकलापों के सभी पहलुओं में ईश्वरीय विचार के सतत सम्पर्क में बने रहें। हम अपने सभी कार्यों में यह महसूस करें कि हर क्षण हम एक अविच्छिन्न विचार–लड़ी द्वारा सर्वशक्तिमान से गुथे हुए हैं। यह आसानी से हो सकता है यदि हम यह मानें कि हमारे सारे क्रियाकर्म दैवी कर्तव्य के अंश हैं जो हमें महान मालिक ने सौंपे हैं और जिनकी सेवा हमें जितना हो सके उत्तमोत्तम ढंग से करनी है। कुछ लोग सोचते हैं कि जब मनुष्य जीवन सांसारिक सम्बन्धों और दायित्वों के कारण अगणित परेशानियों और झंझटों से घिरा रहता है तो उसके लिए ईश्वर का सतत स्मरण अथवा समयान्तर से भी स्मरण व्यावहारिक नहीं है। परन्तु अभ्यास और अनुभव

उन्हें यह सिद्ध कर देगा कि इसकी विधि, परेशानियों और व्यस्तताओं के होते हुए भी बहुत आसान है और सभी व्यक्तियों द्वारा इसका अनुसरण किया जा सकता है यदि वे केवल अपना ध्यान सच्चे अर्थ में ईश्वर की तरफ मोड़ना सीख लें।

गुरु के प्रति उच्चतम दैवी शक्ति की भावना यदि गुरु स्वयं साक्षात्कार की अंतिम दशा में लय हो चुका हो तो आध्यात्मिक प्रयत्नों में बहुत सहायक है। आप उन्हें एक मनुष्योपरि मानव (Super human being) मानकर उनके निर्देश पर आश्रित रहते हैं। यदि आप सब कुछ उनको समर्पित करके अपनी व्यस्त दिनचर्या का पालन करें तो सोच नहीं सकते कि अन्त में आपके लिए यह कितना सुन्दर परिणाम लाएगा। जब कोई कार्य कर रहे हों तो सोचें कि यह आप अपने लिए नहीं कर रहे हैं, बल्कि यह सोचें कि गुरु जी स्वयं ही अपने लिए कर रहे हैं। जब आप कार्यालय जाएं तो सोचें कि आप के गुरुदेव ही सब कर रहे हैं। नाश्ता करते समय आप यही सोचें कि आपके गुरुदेव ही नाश्ता कर रहे हैं। कार्यालय से वापस आते समय मान लीजिए रास्ते में आप एक आकर्षक रूप देखते हैं। नर्तकी के लुभावनी मुखाकृति पर आपकी आँखें टिक जाती हैं। उसके लिए आपकी उत्सुकता तुरन्त समाप्त हो जायगी क्योंकि आपके गुरुदेव की शक्ति आपमें प्रभावित होने लगेगी जिससे कि आप प्रलोभन से छूट जाएंगे। जब आप कार्यालय से आते हैं तो आप के बच्चे आपको कई घंटों बाद देख कर प्रफुल्लित हो उठते हैं। आप भी उनकी प्रसन्नता से प्रसन्न होते हैं और यह स्वाभाविक भी है। आपका ध्यान थोड़ी देर के लिए उनकी ओर मुड़ जाता है और आप पवित्र विचार से अपने को थोड़ा दूर पाते हैं। तब आपको यह सोचना चाहिए कि आपके अन्दर गुरुदेव ही इसका आनन्द ले रहे हैं। फिर तो आप पुनः उसी विचार के सम्पर्क में हो जावेंगे। यदि आप अपने मित्र से बातचीत कर रहें हों तो सोचें कि आपके गुरुदेव न कि आप उनसे बात कर रहे हैं। टहलते समय सोचिए कि स्वयं आपके गुरुदेव चल रहे हैं। यहाँ तक कि ध्यान में आप यदि विचार धारण करें कि आप नहीं वरन् स्वयं आपके गुरुदेव अपने ही रूप पर ध्यान कर रहे हैं तो इसका बहुत उत्तम परिणाम होगा। इसी प्रकार आप अपनी दिनचर्या के सभी कार्यों में ताल–मेल कर सकते हैं। यदि यह विचार पैदा कर लें और यह दृष्टि बनाए रखें कि आपके स्थान पर आपके गुरुदेव ही सब कुछ कर रहे हैं तो आप न केवल सर्वदा सतत स्मरण में रहेंगे बल्कि आपके कार्यों की कोई छाप न बनेगी और इस प्रकार आपके आगे के संस्कारों का बनना बन्द हो जायेगा।

भक्ति

सतत स्मरण वास्तव में ध्यान के अभ्यास का सहज विकास है। ध्यान अथवा

सतत स्मरण के लक्ष्य के प्रति अभ्यासी की भक्ति–भावना उसके सतत स्मरण को और भी दक्षता प्रदान करती है। तब यह एक शुष्क अभ्यास नहीं रह जाता। यह तब एक सर्वव्यस्तीय मधुर कार्य हो जाता है। प्रेम और भक्ति की ज्वाला छोटे–मोटे कचरों को जला डालती है और मैल से स्वर्ण निकल आता है। प्रेमाग्नि की तीन दशाएँ हो सकती हैं। पहली तो वह है जिसमें दबा हुआ अन्तर्दाह (सुलगनी) घना धुँआ दे रहा हो। दूसरी स्थिति में यदा–कदा चिनगारी निकलती है और अन्तिम दशा में चमकीली जलती हुई शिखा निकलती है जो हर वस्तु को क्षणमात्र में भस्म कर देने में सक्षम है। प्रथम. दो अवस्थाएँ इस बात पर निर्भर हैं कि वे वायु में विद्यमान ज्वलनशील पदार्थों के कितने सम्पर्क में हैं। जब जलने में बाधा उत्पन्न करने वाली ठोसता आन्तरिक गर्माहट से दूर हो जाती है तो अन्तिम कार्य पूरे वेग से प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु अग्नि विद्युत की भी तो होती है जिसमें धुँआ या भाप इत्यादि नहीं होते। वह तो प्रथम दो अवस्थाओं को छोड़ कर अन्तिम अवस्थ में प्रकट होती हैं। यदि आप अपने में इस प्रकार की अग्नि जला सकें तो आपकी प्रगति दिन दूनी रात चौगुनी होगी।

भक्ति और प्रेम की उपलब्धि वास्तव में एक साथ ही अत्यन्त सरल और अत्यन्त कठिन दोनों हैं। वास्तविक भक्ति में अहंकार का जरा भी पुट नहीं होता। वह तो अन्तर्प्रकाश के साथ–साथ बढ़ती जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में भक्त प्रेमास्पद के प्रति अपनी भावना के बारे में पूर्णतः सचेत हो सकता है, परन्तु उच्चतर अवस्थाओं में इसकी तीव्रता मन्द पड़ जाती है। यहाँ तक कि अन्तिम अवस्था में इसका भान भी लगभग समाप्त हो जाता है जिसमें से स्वयं सर्वोच्च स्वामी (सद्गुरु) द्वारा समर्पण की भावना का भान भी बिल्कुल खींच लिया गया हो।

भक्ति, समर्पण आदि के सहज ढंग से अभ्यास की समस्या बनी रहती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कोई व्यक्ति अपनी ही जाति के दूसरे व्यक्ति से सर्वाधिक प्रेम कर सकता है। इसलिए गुरु को ईश्वर के मानवीकरण के रूप में लिया जाता है। मेरे सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव ही मेरे एक मात्र प्रेमास्पद रहे। मैं मुक्ति, शान्ति, पूर्णता या अन्य किसी वस्तु का प्रेमी नहीं था अपितु उनका और केवल उन्हीं का प्रेमी था। निःसंदेह मेरे गुरुदेव उसके योग्य थे। वे ध्यान के लिए सुयोग्यतम व्यक्ति थे और उनकी भक्ति की जा सकती थी। वे अहंभावों, इच्छाओं और सांसारिक उलझावों से बिलकुल मुक्त थे तथा पूर्णतः 'आत्म–स्मरण' करते थे। यह शब्द आध्यात्मिकता की एक बड़ी ऊँची अवस्था का सूचक है जो आमतौर पर मनुष्यों को प्रदान नहीं की जाती। यही कारण था कि मैंने अपने भरसक उत्तमोत्तम ढंग से उनसे प्रेम किया। मैंने मनसा–वाचा कर्मणा से उनमें पूर्णरूप से लय हो जाने का प्रयास

किया। यही मेरे लिए जीवन कार्य रहा है। ऐसा इसलिए था कि मुझे एक गुरु ऐसा मिल गया जो अपूर्व एवं अद्वितीय था। उनसे प्राप्त उपलब्धियों को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं। सारांशत: वे तो कृपा के अनन्त समुद्र हैं जिसमें हम सभी को विलीन हो जाना है। ईश्वर करे यह सभी सच्चे जिज्ञासुओं को सुलभ होवे।

समर्पण

ध्येय की प्राप्ति का सबसे आसान और अचूक उपाय अपने आप को महान गुरुदेव को समर्पित कर देना और 'जीवित–शव' की दशा को प्राप्त कर लेना है। समर्पण की यह भावना यदि हठात् या बाह्य उपायों से उत्पन्न की जाय तो कभी भी सच्ची नहीं सिद्ध होती। इसका विकास आप में स्वत: ही होना चाहिए और इससे मन पर लेशमात्र भी दबाव या खिंचाव नहीं पड़ना चाहिए। यदि 'स्व' की जानकारी बनी रहे तो यह वास्तविक समर्पण नहीं है। यह वास्तविक अर्थ में समर्पण नहीं है। जब आपने वास्तविक अर्थ में अपने आपको समर्पित कर दिया है तब करने को क्या शेष रह जाता है? कुछ भी नहीं। मेरा विश्वास है कि इस अवस्था में अभ्यासी सदैव वास्तविकता के निकट सम्पर्क में रहेगा और दिव्य प्रभा की धारा उसमें अबाध रूप से बहती रहेगी। इस प्रकार आप अपने जीवन की समस्या का सरलतम और अत्यन्त इष्टफलोव्यादक ढंग से अल्पतम समय में हल कर सकते हैं। अत: यदि कोई अपने दैवी गुरु को अपना हृदय दान कर सकता है तो फिर उसके बाद कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यह सहज ही उसे 'परम तत्व' में लय हो जाने की स्थिति में ला देगा। इस सरल और आसान तरीके का उपयोग प्रारम्भ से ही इस का अन्त बना दता है। जीवन की सबसे प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए एक नन्हें हृदय के अतिरिक्त और कौन सा सर्वथा उपयुक्त उपहार हो सकता है।

एक बात और। सरलतम ढंग से हृदय का समर्पण करने के लिए केवल इच्छा की एक क्रिया मात्र की आवश्यकता है। इच्छा जितनी ही सूक्ष्म और हल्की होगी कार्य उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। इस विधि का अनुसरण निश्चित ही प्रथम दिन से त्याग की भावना उत्पन्न करेगा। इसके लिए केवल एक साहसिक प्रारम्भ देने की आवश्यकता है।

आत्म समर्पण स्वात्मा की बिल्कुल चिंता किये बिना अपने को पूर्णत: गुरु की इच्छा पर छोड़ देने की स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस स्थिति में स्थायी निवास निषेध की प्रारम्भिक स्थिति की ओर ले जाता है। जब हम अपने को महान गुरु को समर्पित कर देते हैं तो उनसे उच्चतम कोटि की एक निरंतर प्रवाहित दैवी धारा अपनी ओर हमें खींचना प्रारम्भ कर देती है। इस अवस्था में व्यक्ति वही सोचता और करता है जो उसमें गुरु की इच्छा कहती है। संसार में वह किसी वस्तु को

अपना नहीं समझता। हर वस्तु वह गुरु की पवित्र धरोहर मानता है। हर कार्य गुरु का आदेश मानकर करता है। उसकी इच्छा पूर्णतः गुरु की इच्छा के अधीन होती है। समर्पण कोई साधारण चीज नहीं है जो आसानी से प्राप्त हो जाय। इसका प्रारम्भ सभी इन्द्रियों और संकार्यों के निषेध के बाद होता है जिसके लिए हम भक्ति के प्रारम्भिक नियमों के अनुसार चलते है। हम अपने गुरु को एक मनुष्योपरि मानव मान कर सब कुछ उनको समर्पित कर देते हैं. हम उनसे श्रद्धा, भक्ति और आदर से प्रेम करते हैं और उनका ध्यान एवं कृपा अपनी ओर आकर्षित करने का हर संभव प्रयास करते हैं।

महात्माओं ने शिष्यों का वर्गीकरण मुख्यतया दो वर्गों में किया है– मनमत और गुरु मत। पहले वर्ग में वे हैं जो गुरु के पास किसी विशेष सांसारिक उद्देश्य को लेकर जाते हैं–जैसे कष्ट से मुक्ति, धन की इच्छा आदि। वे उसी समय तक उनके प्रति आज्ञाकारी रहते हैं जब तक उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति की आशा रहती हैं। जब इस दिशा में उन्हें निराशा होती है तो वे रफूचक्कर हो जाते हैं। ऐसे शिष्यों के लिए आज्ञाकारिता अथवा अधीनता का प्रश्न ही नहीं उठता, समर्पण की कौन कहे। गुरुमत शिष्य वे हैं जो हर विषयों में गुरु के आदेश का पालन करते हैं और हर संभव उपायों द्वारा उनकी इच्छा के अनुकूल चलने का प्रयत्न करते हैं। आज्ञाकारिता से अधीनता का भी श्रीगणेश होता है। जब हम आध्यात्मिकता में ऊँची उपलब्धि वाले गुरु की उच्च शक्तियों से बहुत अधिक प्रभावित हो जाते हैं तो उनके आदेशों का पालन करने के लिए हम अन्दर से उत्सुक रहते हैं।

समर्पण का एक सुन्दर उदाहरण हमारे सम्मुख दशरथ पुत्र भरत द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जब वे अयोध्यावासियों के साथ राम को जंगल वापस लाने के लिए मनाने गए थे। लोगों की विनती और प्रार्थनाओं के उत्तर में राम ने गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया कि वे राजधानी वापस चलने को तैयार हो जावेंगे यदि भरत ऐसा करने के लिए उनसे कहें। सबके नेत्र भरत की ओर घूम गए जो स्वयं वहाँ उन्हें वापसी के लिए मनाने के लिए विद्यमान थे। परन्तु उन्होंने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, ''मुझे आदेश नहीं देना है बल्कि केवल अनुसरण करना है।'' अतः अभ्यासी के लिए उसके अपने (आध्यात्मिक) कार्य में आत्म–समर्पण का बड़ा महत्व है।

6

साक्षात्कार का मार्ग
(मार्गदर्शक की भूमिका)

गुरु और उसका कार्य

साक्षात्कार केवल अभ्यास द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, कारण कि उच्चतर अवस्थाओं पर दशा ऐसी होती है कि यदि कोई अपने प्रयत्न से थोड़ा ऊपर उठे भी तो ऊपर से पड़ने वाले तेज दबाव से वह शीघ्र ही नीचे खिसक आता है। अतः जहाँ तक हमारे उच्चतर मंडलों में प्रवेश का सम्बन्ध है गुरु की सहायता अपरिहार्य है। साधना के व्यावहारिक पक्ष के लिए भी हर व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक प्रशिक्षण का व्यावहारिक मार्ग अपनाना आवश्यक है जिसके लिए हमें उचति मार्गदर्शक की तलाश करनी है। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ पर संतों ने केवल अपने प्रयत्न से सीधे ईश्वर को समर्पित करके पूर्णता प्राप्त की है। परन्तु ऐसे उदाहरण इने–गिने हैं। यह वास्तव में बहुत कठिन मार्ग है और केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा अनुसरण किया जा सकता है जिन्हें असाधारण प्रतिभा प्राप्त हो। गुरु ईश्वर और मनुष्य को जोड़ने की कड़ी है। केवल उसी के माध्यम से हम ईश्वर तक पहुँच सकते हैं। केवल वह ही एक मात्र शक्ति है जो हमें मार्ग की जटिलताओं से निकाल सकती है।

यह भी आवश्यक है कि जिस मार्गदर्शक का हम चुनाव करें वह उच्चतम योग्यता का हो तथा अपने नियंत्रण में शक्ति के द्वारा जटिलताओं को एक ही दृष्टि में उड़ा देने की क्षमता रखने वाला हो। यह वही हो सकता है जिसमें स्वयं पूर्णता प्राप्त कर लिया हो अथवा जिसने अपने 'स्व' का पूर्ण निषेध कर दिया हो। हमें अपने को एक ऐसी बड़ी शक्ति से अवश्य ही प्रेम और आकर्षण से जोड़ लेना चाहिए। इसका कोई विशेष महत्व नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध में कौन सी छाया अपने मन में रखते हैं। हम उसे मित्र, स्वामी, दास या जो भी अच्छा लगे कह सकते हैं। परन्तु वह तो मार्गदर्शक या सामान्य रूप में गुरु ही रहेगा। मेरे विचार से गुरु के प्रति माँ का भाव अभ्यासी के लिए सबसे अधिक ठीक और लाभकर है। एक माँ प्यार और स्नेह की साक्षात प्रतिमूर्ति होती है। केवल एक माँ का हृदय ही धैर्यपूर्वक उसके पुत्र द्वारा दिए गए सारे कष्टों एवं दुःखों को सह सकता है और साथ ही साथ सदैव अपने पुत्र का आराम और सुख प्रदान करने की सोच सकता है। वही स्थिति सच्चे गुरु की

होती है जो अभ्यासी का आध्यात्मिक माँ होता है। अतः गुरु बच्चे अर्थात् अभ्यासी के आध्यामिक भलाई के लिए सदैव सचेष्ट रहता है। गुरु के अभ्यासों से स्नेहपूर्ण सम्बद्ध होने के कारण महान पिता (ईश्वर) का ध्यान जिससे कि उसकी आध्यात्मिक माँ (गुरु) घनिष्टता से जुड़ी होती है अभ्यासी की ओर निदेशित किया जाता है। एक माँ और एक सच्चे गुरु के कार्य में अत्यन्त निकट का साम्य है। माँ बच्चे को एक निश्चित अवधि तक रखती है। गुरु भी आध्यात्मिक बच्चे को अपने मानसिक क्षेत्र में एक निश्चित समय तक रखता है। इस अवधि में अभ्यास, गर्भस्थ शिशु की भाँति, गुरु के आध्यात्मिक तरंगयुक्त विचारों से शक्ति शोषण करता है तथा पोषण पाता है। जब समय परिपक्व हो जाता है तो वह ज्योतिमान लोक में जन्म लेता है और वहाँ से उसका अपना आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है) यदि अभ्यासी अपने समस्त सम्भार (belonging) को अपने गुरु को समर्पित करके उसके मानसिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तो गुरु केवल सात माह में उसे (अभ्यासी को) ज्योतिमान लोक में उतार देता है। परन्तु आमतौर पर इस प्रक्रिया में बहुत अधिक समय लग जाता है क्योंकि अभ्यासी गुरु के मानसिक क्षेत्र में रहते हुए अपने विचारों और भावनाओं की चेतना भी बनाए रखता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि गुरु की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी माँ की होती है। गुरु के प्रति माँ के रूप में विचार हममें प्रेम, श्रद्धा और समर्पण की भावना बढ़ाता है जो आध्यात्मिक जीवन के मुख्य अवयव है।

एक योग्य गुरु का चुनाव निःसंदेह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। अपने अनुभव के आधार पर मैं आपको तय करने का सरल तरीका बता सकता हूँ। जब कभी आप किसी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आवे तो यह समझने का प्रयास करें कि क्या उसका संसर्ग आप में शान्ति और ठहराव की भावना पैदा करता है तथा कुछ ही समय के लिए सही आपके मन की व्यग्र प्रवृत्तियों को बिना इस पर कोई बोझ और प्रभाव पैदा किए हुए स्थिरता प्रदान करता है। यदि ऐसा है तो आप यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह आपको मार्ग पर ले चलने के लिए उपयुक्त व्यक्ति है। इसके अलावा एक और भी कठिनाई है। वह यह कि यदि ऐसा गुरु उपलब्ध और पहुँच में हो तो भी उस पर तब तक नहीं विश्वास किया जाता जब तक वह कोई प्रभावोत्पादक चमत्कार नहीं दिखाता। एक राजयोगी जिसमें प्राणहुति की क्षमता होती है निश्चय ही चमत्कार प्रदर्शन कर सकता है परन्तु वह ऐसा करना कभी भी पसन्द नहीं करता क्योंकि वह उसकी वास्तविक दशा को हीनता प्रदान करने वाला होता है। हमारे सामने क्राइस्ट का उदाहरण है जिन्होंने जीवन भर चमत्कार प्रदर्शन किया। परन्तु उन सबके बावजूद भी उन्हें केवल बारह शिष्य प्राप्त हुए जिनमें एक वह भी व्यक्ति था जिसने बाद में उन्हें सूली पर चढ़वाया। यह सिद्ध करता है कि उनके चमत्कार

लोगों में श्रद्धा उत्पन्न करने में कोई लाभकर सिद्ध हीं हुए। वस्तुतः उनके सुन्दर उपदेशों के कारण उन्हें बाद में इतनी बड़ी संख्या में अनुयायी प्राप्त हो सके। इसलिए यह हम लोगों के सर्वोत्तम हित में है कि हम अपनी दृष्टि 'वास्तविकता' पर टिकाए रखें न कि चमत्कारों पर जो निःसंदेह बड़े छोटे प्रपंच हैं तथा जिनका प्रदर्शन अपेक्षाकृत निम्नकोटि की योग्यता और उपलब्धि वाले व्यक्तियों द्वारा भी हो सकता है। एक संत या योगी के लिए चमत्कार कोई मापदंड नहीं है। दूसरी तरफ यह एक उद्देश्यपूर्ण हठ है जो चतुर गुरु निर्बल और विश्वसनीय लोगों को अपने गुरुत्व के सीमा में फँसाने के लिए करते हैं। अन्तिम चुनाव का निर्णय करने के पहले व्यक्ति का गुरु का मार्ग पर व्यावहारिक क्षमता एवं योग्यता की उपलब्धियों के सम्बन्ध में पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहिए। इसके लिए उसे उनका सतत सान्निध्य बनाए रखना चाहिए जिससे कि वह चीजों को व्यवहारिक रूप में देख सके और अनुभव कर सके। इस प्रकार जब वह आश्वस्त हो जावे तब उसे उन पर निष्ठापूर्वक विश्वास करना चाहिए तथा दृढ़तापूर्वक उन पर अवलम्बित होना चाहिए। सफल प्रयास के लिए यह बहुत आवश्यक है।

मेरे पास एक हृदय है जो सदैव उसे जिसे इसकी आवश्यकता हो सहायता करने के लिए तैयार रहता है। मैं इस कार्य को केवल मानवता के विनम्र सेवक की भाँति लेता हूँ। बहुत से कुशल गुरु हैं और हुए हैं जो अपने समय में गुरु के रूप में कार्य करते हैं और किए हैं परन्तु मैं सेवक ही होना पसन्द करता हूँ और सामान्य जन की भलाई के लिए सेवक के रूप में ही कार्य करना चाहता हूँ। आप से जो कहा गया है करें और हमें अपनी दैनिक प्रगति की सूचना दे तथा यदि कुछ बाधाएँ हों तो उन्हें भी सूचित करें। मैं आपको आश्वस्त कर सकता हँ कि यदि आप लगातार सतत स्मरण से चलते रहें तो बहुत आसानी से उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं।

धार्मिक क्षेत्र के विद्वान शिक्षक सामान्यतया लोगों को देवी देवताओं की पूजा के लिए प्रेरित करते हैं। केवल वही जो मार्ग पर चल चुका है सफलतापूर्वक मार्गदर्शन कर सकता है। विद्वान व्यक्ति सड़क के किनारे के सूचना-पट्ट की भाँति होते हैं जो आपको बताते हैं कि यह सड़क कहाँ को जाती है। बस वे इतना ही प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं। निःसंदेह यह बहुत आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति जो भौतिकता से मुक्त होने का उद्देश्य रखता हो, भौतिक रूपों एवं स्थूल भावनाओं का अवलम्बन ले।

'महात्मा' शब्द कई रूपों में परिभाषित किया गया है और कदाचित ऐसा नहीं है कि उन सबका कोई उचित आधार नहीं है। परन्तु मेरी इसकी 'अस्तित्वहीन अस्तित्व' की परिभाषा अनोखी परन्तु अर्थपूर्ण है। इसे ऐसे भी व्यक्त किया जा

सकता है कि वह जो आध्यात्मिकता से दूर रहा हो परन्तु वह उन लोगों को स्वीकार नहीं हो सकता जो आध्यात्मिकता के इच्छुक हों। परन्तु यदि हम इसके वास्तविक महत्व को समझाने के लिए गहराई में जावें मुझे भय है कि इसे समझा नहीं जा सकेगा। अतः अच्छा यह होगा कि मैं इस प्रकरण को बन्द कर दूँ। हमें यह मालूम है कि केवल शाही परिधान ही किसी को वास्तविक सम्राट नहीं बनाते। उसी प्रकार रूप या वस्त्र किसी को वास्तविक संत या योगी नहीं बनाते। बाहरी भौतिक आकृति अन्दर के हृदय को निश्चित रूप से नहीं इंगित करते।

आज के गुरुओं का वर्गीकरण सरलतापूर्वक निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है।

1. मिथ्या चिकित्सक या कठवैध—वे जो वृक्ष, पशुओं, कीड़े–मकोड़ों, बीमारियों और भूत प्रेतों की पूजा कराते तथा परामर्श देते हैं।

2. किताबी फतिंगे—वे जो उन तरीकों और अभ्यासों को बताते हैं जिन्हें उन्होंने पुस्तकों से चुन लिया है।

3. व्यावहारिक शिक्षक—वे जो दूसरों को वे बातें बताते हैं जो वे स्वयं करते हैं या किये होते हैं, परन्तु वे इसके गुण दोष पर विचार नहीं किये होते हैं।

4. प्रेरित शिक्षक—वे जो लोगों का मार्गदर्शन अपनी अन्तः प्रेरणा के आधार पर करते हैं।

5. प्रेरित एवं अनुभवी शिक्षक—वे जो लोगों का मार्ग दर्शन अपने व्यावहारिक अनुभव और उच्चतर अन्तः प्रेरणा के आधार पर करते हैं।

उसी प्रकार शिष्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है:

1. स्वार्थी—वे जो आध्यात्मिक प्रयास अपनी इन्द्रियजन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं।

2. कालक्षेपक—वे जो मनोरंजन के लिए अभ्यास ग्रहण करते हैं।

3. अनुयायी—वे जो गुरु के निर्देशों का पालन करते हैं।

4. निष्ठावान अभ्यासी—वे जो गुरु के पद चिन्हों पर चलते हैं तथा उनका अनुकरण करने का प्रयास करते हैं।

5. हार्दिक अभ्यासी—वे जो गुरु के ध्यान के केन्द्र बिन्दु होते हैं।

दुर्भाग्य से आज योग्य गुरु के चुनाव को कोई महत्व नहीं दिया जाता हालाँकि हर धार्मिक विचारों का हिन्दू यह मानता है कि उसके लिए अपने आध्यात्मिक लाभ के लिए गुरु बनाना आवश्यक है। आमतौर पर लोग किसी को भी बिना उसकी क्षमता या योग्यता का विचार किए चुन लेते हैं। वे अधिकांश में प्रोलभनवश या तथाकथित गुरुओं के भोलीभाली जनता को आकर्षित करने के लिए चमत्कार

प्रदर्शन के कारण ऐसा करने के लिए उन्मुख हो जाते हैं। शिष्य–लुब्धकों की कोई कमी नहीं है। वे इतने अधिक हैं जितने एक वृक्ष में पत्ते। उनमें से अधिकांश के लिए गुरुवाई बहुत लाभदायक कार्य है जिससे उन्हें प्रचुर आय हो सकती है जो वे अन्यथा न अर्जित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त व अपने शिष्यों से अधिकतम सम्मान और व्यक्तिगत सेवा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अनभिज्ञ जनता इन स्वार्थी पेशेवरों की तुरंत शिकार हो जाती है। एक छोटा चमत्कार या किसी आकर्षक चीज का प्रदर्शन इस प्रकार के सैकड़ों मूर्ख भेड़ों को उनके गुरुवाई के सीमा में आकर्षित करने के. लिए प्रर्याप्त हैं। यदि कोई उन्हें अप्रसन्न करता है तो श्राप देने की एक साधारण धमकी हजारों को निम्न कोटि की दासता में ला सकता है। यही नहीं अपने व्यवसाय का एकाधिकार बनाए रखने के लिए वे यह घोषित करते हैं कि एक विशेष वर्ग का व्यक्ति ही चाहे वह सन्यासी हो या ग्रहस्थ, गुरु बनने का अधिकारी है। वे जन्म के अधिकार से जगत गुरु बनने का दावा करते हैं चाहे उनकी क्षमता या योग्यता कुछ भी हो। आजकल आप संन्यासियों को भी बहुत अधिक संख्या में पायेंगे जो महात्मा बनने का स्वांग करते हैं तथा जगत गुरु होने का बखान करते हैं। क्या ऐसे व्यावसायिक छद्म वेषियों पर तरस की बात नहीं है जो राष्ट्र और धर्म के लिए लज्जाजनक हैं तथा जो अपने स्वार्थ साधन के लिए अज्ञानी जनता को धोखा देते तथा डराते हुए पूरी निर्लज्जता से घूमते रहते हैं।

यह लोगों के लिए उपयुक्त समय है जब लोग आंखें खोले और देखें कि ऐसे लोगों से कितना भयंकर कार्य हुआ है। गुरुवाई एक विशेष वर्ग का एकाधिकार है। एक निरर्थक बात है जो व्यावसायिक गुरुओं द्वारा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सुरक्षित रखने के लिए प्रचारित किया गया है। आमतौर पर विश्वास किया जाने वाला यह सिद्धान्त भी कि एक शिष्य किसी भी परिस्थिति में अपने गुरु से पवित्र सम्बन्ध को तोड़ नहीं सकता, उन झूठे गुरुओं का निपुणतापूर्ण उपाय है जिससे उनकी स्थिति दृढ़ और सुरक्षित रह सके और धोखे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। एक शिष्य की दीक्षा देने की प्रथा का आधुनिक व्यावसायिकों द्वारा बहुत दुरुपयोग किया गया है जो इसके वास्तविक महत्व को नहीं समझते। उनका काम केवल दीक्षा देने के समय कुछ रहस्यमय शब्दों को शिष्य के कानों में फूँकना तथा पूजा के नाम पर कुछ कर्मकाण्ड का अभ्यास बताना है। शिष्य के प्रति उनका कर्त्तव्य वहीं समाप्त हो जाता है और शिष्य के उत्थान के लिए और कुछ नहीं करते सिवाय इसके कि हर वर्ष उन्हें दर्शन दें तथा उनसे वार्षिक कर वसूलें तथा प्रशंसा प्राप्त करें। वास्तव में एक शिष्य को तभी औपचारिक रूप से दीक्षा देनी चाहिए जब उसमें

सच्चा विश्वास जम जाय और उसके हृदय में ईश्वरी–प्रेम की जड़ बैठ जाय। दीक्षा का महत्व यह है कि शिष्य का सम्बन्ध सर्वोत्कृष्ट शक्ति से हो गया है। उस दशा में शिष्य के पास जितना वह अपने में सीखने की शक्ति विकसित करता है उसी के अनुसार आध्यात्मिक बल स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है। एक सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करना गुरु की शक्ति और क्षमता पर निर्भर करता है जिसके लिए उच्च योग्यता की आवश्यकता है। एक बार का सुदृढ़ सम्बन्ध तब तक चलता रहता है जब तक शिष्य मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता जो ऐसी हालत में बहुत दूर की बात नहीं होती जो कि अगणित जन्मों के बाद प्राप्त किया जा सके। तथ्य यह है कि ऊपर लिखे हुए के अनुसार यदि शिष्य को एक उच्च योग्यता के गुरु द्वारा सही अर्थ में दीक्षा दी गई है तो उसके सम्बन्ध विच्छेद करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। परन्तु व्यावसायिक गुरुओं के लिए जो अपना मतलब सिद्ध करने के लिए नकली दीक्षा देते हैं यह एक निरंतर परेशानी का कारण है। अतः एक शिष्य को स्थायी रूप से अपने मुट्ठी में रखने के लिए वे दैवी आदेश के रूप में यह घोषित करते हैं कि यदि उन्होंने कभी भी सम्बन्ध विच्छेद करने को सोचा तो नरक की समस्त यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। अज्ञानी जनता इसे अकाट्य सत्य स्वीकार कर लेती है तथा किसी भी ऐसे कार्य को जिसके करने से उनके गुरु अप्रसन्न हों सोचने मात्र से काँपने लगती है। अतः वे निष्क्रिय समर्पण की भावना से उनके सभी अत्याचारों को सहते रहते हैं। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। कि शास्त्रों में इस प्रकार कोई सुझाव नहीं है। यह केवल इन धार्मिक शिक्षकों का बनावटीपन है। मेरा विचार है कि यह हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है कि यदि वह पाता है कि उसने गुरु का चुनाव गलत कर लिया है या गुरु की क्षमता या योग्यता का सही निर्णय नहीं कर सका है तो वह किसी भी समय उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है। यदि वह किसी स्थिति विशेष में यह पाता है कि उसके गुरु में जितना वह प्राप्त कर चुका है उससे आगे ले जाने की क्षमता नहीं है तो वह दूसरा गुरु ढूँढ़ने के लिए स्वतंत्र है। दूसरी तरफ एक जागरूक गुरु को स्वयं ही ऐसी परिस्थिति में अपने शिष्य को दूसरा अधिक सम्मुन्नत और योग्य गुरु ढूँढ़ने के लिए निर्देश देना चाहिए ताकि शिष्य की प्रगति न रुके। यह एक सच्चे निःस्वार्थी गुरु का पवित्र कर्त्तव्य है। तथापि यदि शिष्य को सम्बन्ध विच्छेद करने की अनुमति गुरु द्वारा उनके स्वार्थ परक दृष्टिकोण के कारण नहीं दी जाती है तो शिष्य को यह स्वतंत्रता रहती है कि वह तुरन्त ही उनसे सम्बन्ध तोड़ ले तथा दूसरा गुरु ढूंढ़ले। किसी भी नैतिक अथवा धार्मिक कानून में ऐसा करने की मनाही नहीं है।

गुरुओं की श्रेणी में थोड़े समुन्नत वे लोग माने जाते हैं जो शास्त्रों एवं पवित्र पुस्तकों के बारे में अपने ज्ञान के आधार पर शिक्षा और उपदेश देते हैं। उन्होंने व्यवस्था और आश्रम स्थापित किए हैं जहाँ वे अपने अनुयायियों में (राजा का दर्जा अपनाए) हुए हैं। वे भ्रमण करते रहते हैं तथा विशाल जन समुदाय के सम्मुख भाषण करते हैं तथा उन्हें समझाते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए एवं माया, जीव और ब्रह्म सम्बन्धी समस्याओं की व्याख्या करते हैं। लोग हजारों की संख्या में उनके इर्द–गिर्द एकत्र होते हैं, उनके उपदेश सुनते हैं, उनके ऊँचे विचारों और विस्तृत ज्ञान की प्रशंसा करते है तथा उन्हें बहुत बड़ा महात्मा या संत मानते हैं। वे उनसे बहुत से जटिल प्रश्न करते हैं और यदि वे अपने ज्ञान भंडार के आधार पर उत्तर दे सकने में समर्थ होते हैं तो महात्मा के रूप में उनकी महत्ता उनके मतों पर स्थापित हो जाती है; और उन लोगों को उन्हें गुरु मान लेने के लिए प्रेरित किया जाता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार उन लोगों ने उनके पांडित्य की परीक्षा की है न कि वास्तविक योग्यता की। यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि पांडित्य या ज्ञान किसी व्यक्ति को पूर्णता नहीं प्रदान करते अपितु केवल सच्चे अर्थ में साक्षात्कार ही किसी को सच्चा योगी या संत बनाता है। यह बहुत संभव है कि उस व्यक्ति ने जिसने आपको बाहरी रूप, पांडित्य या वक्तृत्वशक्ति से प्रभावित किया है व्यावहारिक उपलब्धि की दृष्टि से निम्नतम स्तर पर हो। इसलिए ज्ञान एक सच्चे योगी या महात्मा के लिए कोई मापदण्ड उनके चमत्कार नहीं अपितु साक्षात्कार के पथ पर उनका अनुभव है। महात्मा का एक महान व्यक्तित्व के रूप में बहुप्रचलित अर्थ मुझे नहीं जँचता। मैं महात्मा की परिभाषा एक अत्यन्त महत्वहीन जीव बल्कि एक नगण्य इकाई जो महानता की पूरी भावना, घमंड या अहं से परे हो तथा स्थाई रूप से पूर्ण आत्म–निषेध की स्थिति में निवास करता हो के रूप में करूँगा।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह विश्वास करते हैं कि चूँकि ज्ञान साक्षात्कार की प्रारम्भिक अवस्था है अतः आवश्यक और अपरिहार्य हैं। मैं उन लोगों से इसलिए नहीं सहमत हूँ कि ज्ञान केवल बुद्धि की एक उपलब्धि है जबकि साक्षात्कार आत्मा का जागरण है; अतः इसकी परिधि के कहीं आगे की वस्तु है। इसलिए एक वास्तविक शिक्षक वह नहीं है जो हमें धार्मिक प्रतीतियों के ठोस आधार की व्याख्या कर सकें अथवा वह जो यह बता सके कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। एक गुरु से हमें जिस चीज की अपेक्षा है वह सच्चे स्पन्दन की है जो आत्मा में जागरण पैदा कर सके तथा उसके प्रत्यक्ष अवलम्बन की है जिसकी हमें साक्षात्कार के पथ पर बढ़ने में आवश्यकता होती है। यदि हमारी दृष्टि सफलतापर है तो हमें एक ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी है। इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि अपने

आध्यात्मिक मार्ग दर्शन के लिए एक व्यक्ति का निर्णय करते समय हमें उसके पांडित्य या चमत्कार पर ध्यान नहीं देना चाहिए बल्कि साक्षात्कार के मार्ग पर उसकी व्यावहारिक उपलब्धि। एक व्यक्ति जो स्वयं मुक्त है आपको शाश्वत बंधन से मुक्त कर सकता है। यदि आपके गुरु संस्कार, माया या अहंकार के बंधन से मुक्त नहीं हैं तो उनके लिए आपको इन बंधनों से मुक्ति दिलाना सम्भव नहीं होगा।

प्राणाहुति

अपने गुरु की कृपा से मैं एक बड़े रहस्य या भेद को प्रकट करने की कोशिश करूँगा जो सामान्य लोग नहीं जानते। यह एक बहुत आश्चर्य की बात होती है जबकि एक महान् व्यक्तित्व जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द या मेरे गुरुदेव एक व्यक्ति के जीवन की समग्र धारा को बदल देते हैं। यह हमारे लिए परम आवश्यक है कि हम एक ऐसे मार्ग दर्शक की तलाश करें जो अपनी शक्ति से हमें अधिक से अधिक ऊँचा उठा सके। इस भेद को प्राणाहुति कहते हैं। यह शक्ति शुद्ध मन के जरिये कार्य कर रही है। प्राणाहुति को इच्छा शक्ति से क्रियान्वित किया जाता है जो सदैव प्रभावकारी होती है। यदि एक आध्यात्मिक प्रशिक्षक प्रशिक्षणार्थी के मन को मोड़ने के लिए अपनी इच्छा–शक्ति का प्रयोग करता है तो यह प्रभावकारी होगा तथा बहुत सुन्दर परिणाम लाएगा। बहुत से स्वामी जी जो गेरुआ वस्त्र धारण करते ही गुरुवाई प्रारम्भ कर देते हैं शिकायत करते हैं कि यद्यपि उनके अनुयायी उनकी बात दिलचस्पी से (ध्यान से) सुनते हैं,फिर भी वे कुत्ते की पूँछ की भाँति स्वभाव से वक्र ही बने रहते हैं। कारण स्पष्ट है। या तो स्वामी जी अपनी इच्छा–शक्ति का प्रयोग नहीं करते या उनमें कोई शक्ति नहीं होती। वे बहुत से श्रम–साध्य और बुद्धि को बोझिल बनाने वाले अभ्यास बताते हैं तथा शिष्यों को उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। न तो अध्यापक उन अभ्यासों के परिणाम को जानता है न तो शिष्य ही अपने विवेक का उपयोग करता है। इसका परिणाम शिष्यों में ठोसता और बुद्धि की मन्दी तथा गुरुओं में दुश्चरित्रता, पतन तथा नैतिक भ्रष्टाचार होता है जो केवल उपदेश देने के अधिकार के प्रति सजग रहते हैं तथा अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों को एकदम भूले रहते हैं।

कुछ शंकालु ऐसा कह सकते हैं अंततोगत्वा यह उस व्यक्ति के कारण है जो अपने को बदलना चाहता था और गुरु तो नाम मात्र का एक कारण बना। यदि श्रीकृष्ण में ऐसी शक्ति थी तो उन्होंने दुर्योधन का हृदय क्यों नहीं परिवर्तित कर दिया बजाय इसके कि महाभारत का युद्ध करावें? वे ऐसे बहुत से उदाहरण दे सकते हैं जिसमें एक व्यक्ति किसी अत्यन्त महत्वहीन व्यक्ति को या किसी निर्जीव वस्तु को ही अपना पथ प्रदर्शक मान कर महान संत हो गया हो। परन्तु यह हमारे वास्तविकता

को जानने के प्रयास को अवरोध नहीं प्रदान करता क्योंकि ईश्वर के तरीके रहस्यपूर्ण होते हैं। कुछ लोग अपने ही विचारों से धोखा खा जाते हैं तथा कुछ लोग ईश्वरीय कृपा से ज्योति प्राप्त करते हैं।

योग्य प्रशिक्षक यौगिक प्राणाहुति की शक्ति से प्रशिक्षणार्थी के मन की निम्न प्रवृत्तियों को निर्बल कर देता है और उसके हृदय–गुफा में दैवी प्रकाश का बीजारोपण करता है। इस प्रक्रिया में प्रशिक्षक अपनी इच्छा–शक्ति का प्रयोग करता है जिसे अनन्त दैवत्व का आधार प्राप्त रहता है। एक प्रकार से वह 'उसके' प्रति चैतन्य रहता है और वह इसे अपनी सद्इच्छा के ताल (leus) द्वारा प्रशिक्षणार्थी के हृदय पर केन्द्रित करता है। प्रशिक्षणार्थी प्रारम्भ में कुछ नहीं भी अनुभव कर सकता है। कारण यह है कि उसकी आदत इन्द्रियों के द्वारा ही अनुभव करने की होती है। कुछ समय पश्चात् वह ऐसी प्राणाहुति का प्रभाव अनुभव कर सकता है जिसका प्रदर्शन उसके अंगों की क्रिया में सूक्ष्म परिवर्तन और मन की वृत्तियों के रूप में होता है।

यह अत्यन्त दुःख और तरस की बात है कि युग–युगान्तर की यौगिक प्राणाहुति थी यह पद्धति जिसका प्रारम्भ तथा व्यापक अभ्यास हमारे प्राचीन ऋषियों ने किया था अब पूरी तरह अपने उत्पत्ति के ही देश में भुला दिया गया है तथा जहाँ पर थोड़े ही लोग ऐसे होंगे जो इस पर विश्वास भी करने के लिए उत्सुक हों। कुछ लोग इस सम्मोहन या मोहनिद्रा के रूप में गलत व्याख्या करके इसका परिहास करने का प्रयास करते हैं। सम्मोहन के परिणाम प्राणाहुति के परिणाम के विपरीत होते हैं। इन निम्नस्तरीय कला में सम्मोहक अपनी इच्छा शक्ति का उपयोग भौतिक शक्तियों के सहारे करता है। मोहग्रस्त व्यक्ति की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है तथा जब वह मोहनिद्रा से जागता है तो अपने को सुस्त और हृदय पर भारीपन महसूस करता है। सम्मोहक की शक्ति और सम्मोहित के समर्पण के अनुसार कुछ हद तक कोई बीमारी ठीक हो सकती है या छोटी–मोटी प्रकार की किसी प्रवृत्ति को दबाया जा सकता है। परन्तु इसका प्रभाव बहुत दिनों तक नहीं रहता। सम्मोहन शक्ति का विकास किसी तीव्र मानसिक और शारीरिक अभ्यास जिसमें द्रव्यात्मक वस्तुओं या मानसिक प्रतिबिम्बों को एकाग्रता का विषय मान कर करने से होता है। ये अभ्यास अक्सर मानसिक विरुपता या पागलपन पैदा करते हैं और कभी–कभी शारीरिक विरुपता भी इसका परिणाम होता है। फिर भी एक सफल अभ्यास से अधिक से अधिक किसी द्रव्यात्मक शक्ति की प्राप्ति हो सकती है जो सीमित है तथा किन्हीं प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति मात्र के लिए लाभदायक है वह भी तभी तक जब तक यह शक्ति समाप्त नहीं हो जाती।

यह मैं आपको आश्वस्त कर सकता हूँ कि ऊँची अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए

आध्यात्मिक प्रशिक्षण केवल यौगिक प्राणाहुति के जरिये और अन्य किसी भी विधि से सम्भव नहीं है। आजकल के शिक्षित व्यक्तियों के समाज में इस पद्धति के बार–बार जिक्र करने से कुछ धार्मिक शिक्षकों ने अपनी अयोग्यता की प्रतिरक्षा के लिए यह व्याख्या प्रारम्भ कर दी है कि प्राणाहुति में कोई विशेष बात नहीं है। ऐसा सामान्यतया होता है कि जब आप किसी महात्मा या संत के संपर्क में होते हैं तो आप किसी सीमा तक अपने अस्थिर विचारों से मुक्त होते हैं और कुछ काल के लिए अपेक्षाकृत शाँति महसूस करते हैं। यह वे उस महात्मा द्वारा प्राणाहुति के प्रभाव के कारण मानते हैं। वे जो इस प्रकार की व्याख्या करते हैं केवल जनता को अपनी अयोग्यता को छिपाने के लिए धोखा देते हैं। जिसे वे प्राणाहुति कहते हैं वह उन महात्माओं से स्वतः विकीर्ण होने वाले पवित्र परमाणु होते हैं, ये उन सभी लोगों को जो वहाँ एकत्र होते हैं प्रभावित करते हैं जिसका परिणाम कुछ हद तक जब तक वे वहाँ रहते हैं शान्ति का फैलाव होता है। यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है और प्राणाहुति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार के परमाणुओं का विकिरण केवल महात्मा या संत से ही नहीं होता बल्कि हर आदमी से होता है चाहे वह पुण्यात्मा या दुष्टात्मा, साधु प्रकृति या आसुरी प्रकृति का हो। यदि आप कुछ समय के लिए एक अपवित्र या नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट व्यक्ति के साथ रहते हैं तो उससे अपवित्र परमाणुओं का विकिरण होता हुआ तथा आपको प्रभावित करता हुआ पाते हैं फल यह होता है कि आप अपने विचारों को कुछ समय के लिए उसी धारा में बहते हुए पाते हैं। इस प्रकार के विकिरण का प्रभाव थोड़े ही समय तक रहता है और जब आप उससे दूर हो जाते हैं तब यह समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि अक्सर धार्मिक शिक्षक इस बात की शिकायत करते हैं कि लोग उनके उपदेशों के प्रति अन्यमनस्क रहते हैं। वे कहते हैं कि लोग जब उनके उपदेशों को सुनकर जाते हैं तो तुरन्त वहीं पर जो कुछ सुने रहते हैं झाड़कर चले जाते हैं तथा अपने मन में कुछ भी नहीं रखते। मेरे विचार से लोग नहीं बल्कि इसके लिए उपदेशक ही दोषी है क्योंकि उसके पास क्षमता नहीं होती या वह जो उपदेश देते हैं उसे संचालित करने की शक्ति नहीं होती। परन्तु प्राणाहुति की शक्ति एक अत्यन्त उच्च कोटि की यौगिक उपलब्धि है। जिसके द्वारा एक योगी अपनी इच्छाशक्ति द्वारा यौगिक ऊर्जा या दैवी कृपा किसी के अन्दर प्रविष्ट करा सकता है और उसमें जो अवांछनीय तत्व, या आध्यात्मिक प्रगति में अवरोधक तत्व हैं उन्हें हटा सकता है। वह इस शक्ति का प्रयोग न केवल उन पर कर सकता है जो उसके इर्द–गिर्द एकत्र हैं बल्कि उन पर भी जो उससे दूर हैं। इस शक्ति का उपयोग किसी भी रूप में और किसी भी समय में किया जा सकता है। वह जिसने इस शक्ति पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, एक ही दृष्टि में अस्थायी या स्थायी

रूप से किसी अभ्यासी के मन की वह अवस्था दे सकता है जो उसकी वर्तमान अवस्था से कहीं ऊँची हो और जो अन्य प्रकार से प्राप्त करने के लिए पूरे जीवनकाल की अपेक्षा करेगा। यह एक बकवास नहीं है बल्कि शुद्ध सत्य है और वह जो चाहे कभी भी व्यावहारिक रूप से इसका सत्यापन कर सकता है। संतों ने अक्सर प्राणाहुति के द्वारा एक ही दृष्टि में एक मनुष्य के सम्पूर्ण स्वभाव को बदल दिया है। महान संतों जैसे मेरे गुरुदेव फतेहगढ़ के समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज, स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य दूसरे लोगों के आश्चर्यजनक उदाहरण इसके पर्याप्त प्रमाण हैं।

मैं कई संस्थाओं के शीर्षष्थों से मिला हूँ और यह पाकर आश्चर्य–चकित रह गया हूँ कि उनके यहाँ प्राणाहुति है ही नहीं। यहाँ तक कि उनमें से बहुतों के लिए यह बिल्कुल अपरिचित चीज थी। निःसंदेह स्वामी विवेकानन्द में यह क्षमता थी पर ऐसे व्यक्ति सदैव इने–गिने होते हैं। मेरे पूज्य गुरुदेव जैसे व्यक्ति संयोगवशात नहीं पैदा होते।

वास्तविकता यह है कि हम सभी मालिक के दरवाजे पर भिखारी की भाँति हैं और अपने हाथ में भिक्षा–पात्र लिए हुए हैं जिसे मालिक तत्परता से भर देता है। परन्तु जब पात्र पहल से आध्यात्मिकता से इतर चीजों से भरा होता है उनसे (ईश्वर) कोई चीज प्राप्त करने का बिल्कुल ही प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यदि इसमें कोई चीज डाल दी जावे तो वह तुरन्त बाहर बह निकलेगी। इसलिए हम लोगों के लिए सबसे पहली चीज है कि हम अपने को खाली करें ताकि पात्र मालिक की कृपा से भरा जा सके।

7
साक्षात्कार के मार्ग में दशाप्रक्रम

पहुँच की उच्चतम बिन्दु या जीवन का अन्तिम उद्देश्यपूर्ण निषेध, अभाव या शून्य की दशा है। मैंने इसे चित्र में प्रदर्शित करने की कोशिश की है।

केन्द्र के चारों ओर समकेन्द्रित वृत्त मोटे तौर पर उन आध्यात्मिक क्षेत्रों को प्रदर्शित करते हैं जिन्हें हम अपनी प्रगति के दौरान पाते हैं। अपनी यात्रा सबसे बाहरी वृत्त से प्रारम्भ करके हम हर वृत्त को पार करके अगली दशा प्राप्त करते हुए केन्द्र की ओर बढ़ते हैं। यह एक अतिविस्तृत प्रसारण है।

हम हृदय की—जो नाभिक है—ध्यान के लिए लेते है और उद्देश्य की प्राप्ति तक इसे जारी रखते हैं। हृदय–क्षेत्र में पाँच बिन्दु या उपकेन्द्र हैं जिनसे होकर हम अपनी यात्रा करते हैं। हर बिन्दु पर क्रमानुसार निम्न चार दशाओं का अनुभव होता है :

1. एक विचित्र दशा जिसमें मन में सर्वत्र दैवी शक्ति के फैले होने की चेतना जागृत होती है।

2. सर्वत्र एक दैवी दशा का फैला होता तथा इसकी स्मृति में डूबा हुआ होना।

3. न तो दैवी शक्ति की दशा न तो इसकी स्मृति का होना बल्कि मात्र एक निषेध की भावना।

4. सब कुछ समाप्त। हृदय पर कोई छाप नहीं, यहाँ तक कि अस्तित्व का भी नहीं।

इन चार अवस्थाओं की अनुभूति हर क्षेत्र में प्रत्येक बिन्दु पर होती है। आध्यात्मिक प्रशिक्षण की सहज मार्ग प्रणाली में हर ब्यक्ति उनसे होकर गुजरता है; हालाँकि उनमें जो अधिक सुग्राहक हैं वे ही सभी दशाओं का पूरे विस्तार से अनुभव कर पाते हैं। जैसे–जैसे हम निम्नतम से उच्चतम उपकेन्द्रों से होकर गुजरते हैं ये दशाएँ अधिक से अधिक झीनी होती चली जाती हैं।

जब हम पाँचवा बिन्दु पार कर लेते हैं तो हमारी यात्रा आज्ञा चक्र की ओर सीधी हो जाती है। इस बिन्दु की दशा विचित्र है। इस बिन्दु से वह शक्ति जिसका हम उपयोग करते हैं निचले क्षेत्रों में मोड़ी जाती है। इस बिन्दु की यात्रा करते समय एक प्रमुख दशा जिसका अनुभव व्यक्ति करता है छाया के समान धुँधलेपन की है।

यह केवल एक लक्षण है जो बताता है कि हमें प्रकाश के आगे जाना है। इसकी वास्तविक प्रकृति न तो प्रकाश की है न तो अँधकार की बल्कि भोर के रंग की है।

हृदय–क्षेत्र के पाँचवे वृत्त को पार कर लेने के पश्चात् व्यक्ति मन–क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस क्षेत्र के ग्यारह वृत्त अहं की विभिन्न अवस्थाओं को प्रदर्शित करते हैं। जैसे–जैसे व्यक्ति उनसे होकर बढ़ता जाता है दशाएँ सूक्ष्मतर और सुन्दरतर होती जाती हैं। इन वृत्तों में प्रत्येक में अगणित बिन्दु और ग्रन्थियाँ हैं। प्राणाहुति की आश्चर्यजनक विधि को छोड़कर, साधारण तरीके से एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने में एक पूरे जीवन–काल का समय चाहिए।

सोलहवें वृत्त तक पहुँचते–पहुँचते हम लगभग अहं से मुक्त हो जाते हैं। यहाँ की दशा बड़े से बड़े संतों को भी दुर्लभ रही है। मेरे महान गुरुदेव को छोड़कर जिन्होंने मानव पहुँच की सीमा से बहुत आगे की अवस्थाएँ प्राप्त की थीं। जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है मैं कबीर के अतिरिक्त किसी को नहीं पाता हूँ जिसने अपनी पहुँच इस अवस्था (16वें वृत्त) तक कर ली हो। इस वृत के बाद व्यक्ति में जो शेष रहता है वह अनन्यता मात्र है जो अब भी स्थूल रूप में होती है।

इस बिन्दु पर पहुँचने के पहले यह सहस्त्रदल कमल के विराट क्षेत्र से होकर गुजरते हैं। इसी क्षेत्र से महाभारत के युद्धकाल में अर्जुन को विराट रूप दिखलाया गया था। यह ब्रह्माण्ड है। यहाँ हम कुछ हद तक एक परिवर्तनहीन दशा का अनुभव करने लगते हैं जिसे ब्रह्मगति कहते हैं। इस यात्रा में हम बहुत से केन्द्रों से होकर गुजरते तथा पार करते हैं जिनकी अपनी विचित्र दशाएँ होती हैं।

केन्द्रीय क्षेत्र के सात प्रकाश के वृत्तों को पार करने के पश्चात् व्यक्ति विस्तृत और असीम प्रसार अनन्त में प्रवेश करता है और इसमें तैरना प्रारम्भ करता है। यहाँ भी गुरु की सहायता की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि तैराक की (भारी) तैराकी में उसका थोड़ा भी अपना बल ऊर्जा की लहरें पैदा कर देता है जो उसकी प्रगति के लिए अवरोध उत्पन्न कर देता है। केवल अनुभवी, योग्य और सतर्क गुरु ही तरंगों को स्थिर करने और हल्की तैराकी की कला सिखाने में सहायता करता है जो लगभग प्रवाहित होने के समान है परन्तु प्रवाह नहीं होता है क्योंकि उस तरह का तैरना प्रतिरोधी तरंगें नहीं उत्पन्न करता है। गुरु तैराक को हल्की तैराकी के आनन्द में फिसलने से बचने में भी सहायता करता है जिससे कि आगे की उन्नति धीमी पड़ जाती है तथा उसे यात्रा में आगे ले जाता है।

अब हम सुषुप्त केन्द्र के क्षेत्र में पहुँचते हैं जो स्वयं भी किसी छल्ले जैसे पदार्थ से घिरा हुआ मालूम पड़ता है तथा जो अन्तिम है। अभिव्यक्ति और प्रयोग के लिए मैंने एक बार इसमें प्रवेश करने की कोशिश की, परन्तु तुरन्त एक तेज और

शक्तिपूर्ण धक्के ने मुझे पीछे फेंक दिया हालाँकि मैं एक क्षण के लिए इसमें झाँक सका। इससे मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह संभवत: मानव पहुँच की अन्तिम सीमा है। मैं चाहता हूँ कि हर व्यक्ति यहाँ तक और यदि संभव हो तो इसके आगे भी पहुँच प्राप्त कर सकें। घनी अनन्यता—जैसा कि मैंने कहा है—का रूप अन्तिम सम्भावित सीमा तक निरन्तर सुन्दरतर और सूक्ष्मतर होता जाता है। अब हमने एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली है जो केन्द्र के अति निकट है और मनुष्य के लिए अधिकतम पहुँच की सीमा है। हम यहाँ अति 'वास्तविक' दशा के अंतरंग सामञ्जस्य में रहते हैं। जब कोई भूमा या अन्तिम या परम अवस्था में ईश्वर के निकट सम्पर्क में रहता है तो वह क्या और कहाँ है उसकी समझ के बाहर रहता है। केन्द्र या सर्वशक्तिमान में पूर्ण विलय संभव फिर भी नहीं है क्योंकि ईश्वर और आत्मा में नाम मात्र का अंतर बना रहना आवश्यक है।

यदि मनुष्य साक्षात्कार के पथ पर अधिकतम प्रगति करना चाहता है तो उसे प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि मानव उपलब्धि को इस (सम्भाव्य) सीमा पर टिकानी चाहिए। संतों या योगियों में बहुत कम की इसके बारे में कोई धारणा थी। अधिकतर मामलों में सबसे अधिक पहुँच दूसरे या तीसरे वृत्त तक थी। यह दुर्भाग्य की बात है कि इस अति प्रारम्भिक स्थिति पर ही अपनी पहुँच को उन लोगों ने बहुत महान मान लिया था। मैंने यह सब इसलिए लिखा है कि लोग तथा कथित दैव–तत्व–वेत्ताओं के बारे में निर्णय कर सके जिन्हें कहा जाता है कि उन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है और अनभिज्ञ जन–समुदाय द्वारा सामान्यतया इस रूप में स्वीकृत भी कर लिया जाता है जो मात्र उनके बाह्य रूप और सौन्दर्य से उनके महत्त्व का निश्चय करता है।

प्रार्थना

हे नाथ! तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है,
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं,
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है,
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

सहज मार्ग दर्शन

Sahaj Marg Philosophy